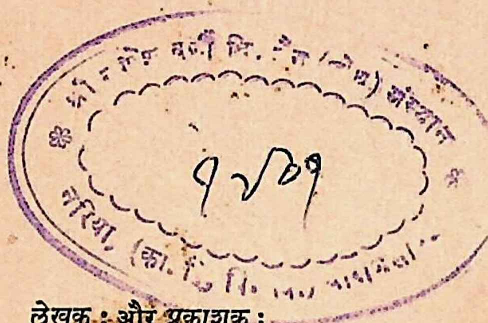
-जैनपने के लक्षण :

[...न शासन को अत्यन्त हानि पहुँचानेवाला
सोनगढ़ के मत का आन्तरिक-रहस्य]



लेखक : और प्रकाशक :
प्रभुदास, बेचरदास पारेख
१२, लोअर चितपुर रोड, २ तल्ला, नं० १७ (उत्तर)
कलकत्ता—१

वि० संवत् २०१३] प्रति १००० [मूल्य ४ आने

प्रासंगिक :

में सभी जैनों को बुलन्द घोषणा से कहता हूं कि—"धर्म शासन पर आने-

रूप है ।
आधार
ात्मवादी
रमात्मा :
सद्ध करने
। आन्त-
क्या गया
गये हैं ।
ाति मिश्र
क्षेत्र
हैं ।
त्र को
ा नहीं
फँसता
ता है ।
पक्षकार
जाहिर
का लाभ
अनेका-
व्यवस्था
लिए कई
पक्षकार
राज्यतंत्र

1078

कारिणी इस चारों ओर मुंह फाड़ कर बढ़ती हुई बाढ़ का नियंत्रण करें।" पृ० ९९

अ-जैनपने के लक्षण

दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से भी सोनगढ़स्थ सेठ कानजी स्वामी, उनका मत और उनके अनुयायी वर्ग के जैनेतरपनेके कुछ प्रमाण !

श्वेताम्बर शासन को वे मानते नहीं, पर दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा माननीय शास्त्र और पूर्वाचार्यों द्वारा मानी गई सामाचारी आदि के आधार से ही उनके जैनेतरत्व प्रमाणित हो जाता है।

यह सत्य किसी तटस्थ और व्यवस्थित मध्यस्थता युक्त न्यायीतत्त्वों के समक्ष प्रमाणित किया जा सकता है।

इससे—जिनाज्ञा और जैन शासन सापेक्ष सभी जैन धर्मावलम्बियों को चेतावनी देने के लिए यह सत्य प्रकाशित किया जा रहा है। औरों के लिए इतनी आवश्यक तो नहीं।

विधा... कृत "पुण्य धर्म मीमांसा" नामक पुस्तक से दिये गये कतिपय उद्धरण से भी पाठकों को यह स्पष्टतया मालूम पड़ जायगा कि–दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भी जैनेत्व नहीं होने से अन्त में उनमें जैनेतरत्व तो स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। और दिगम्बर सम्प्रदाय में कई मुग्ध लोगों में भ्रान्ति (भ्रम) फैला कर घुस जानेपर भी, वहां के कई मुनि वर्ग, विद्वान् वर्ग, और जिनाज्ञा के सापेक्ष धार्मिक गृहस्थ वर्ग पूरा विरोध करते हैं। और अपने साधर्मिक बन्धुओं और दिगम्बर सम्प्रदाय के अग्रगण्य वर्ग को चेतावनी देते हैं कि इस मत के प्रचार से "आपसी लड़ाई झगड़े का निमित्त वन जायगा।" (पुण्य धर्म मीमांसा पृष्ठ ४१ दि० शास्त्री इन्द्रलाल विद्यालंकारकृत)

"और इस परम्परा की जड़ बनी रही तो, इस त्याग प्रधान जैन समाज में धर्म या पुण्य नाम की कोई चीज भी नहीं रहेगी।" पृ० ४१

"भावी पीढ़ियों के लिये धार्मिक दृष्टि से यह उद्योग परम्परा अनर्थकारक ही साबित होगी।" पृ० ४१

"इसलिये दूर-दर्शी विवेकशील दिगम्बर जैन समाज के अगुआओं का कर्त्तव्य है कि–भविष्य में धर्म-विध्वंस-

कारिणी इस चारों ओर मुंह फाड़ कर बढ़ती हुई बाढ़ का नियंत्रण करें।" पृ० ४९

इत्यादि विद्यालंकारजी के कई उल्लेखनीय अवतरण भी दिये जायेंगे।

जब जैनत्व प्रमाणित नहीं होता है और, जैनेतरत्व का प्रमाण होने पर भी आडम्बर युक्त यात्रा के नाम से, अपने मत के प्रचार के गूढ़ आशय को न समझकर दिगम्बर सम्प्रदाय के कई मुग्ध लोक-सन्मान करके आपस में दो दलों की स्थापना कर देने में भागीदार होगें, और जैन धर्म तथा जैन शासन का एवम् जिनेन्द्रदेव की घोर आशातना के भागीदार होना पड़ेगा। यह बड़े दुःख का विषय है। जहाँ पूर्ण विरोध करने की आवश्यकता है। वहां सत्कार समारम्भ का आयोजन करना, उल्टी गंगा बहाना होगा।

दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से भी किसी तरह जैनत्व नहीं है? पर किस तरह जैनेतरत्व है? वह इस प्रबन्ध में संक्षेप में बतलाया जायगा।

दिगम्बर सम्प्रदाय के पंडित महेन्द्रकुमारजी ने भी इस मत को मंखली पुत्र आजीवक मत के प्रचारक गोशालक के एकान्त नियतिवाद से घटा (तुलना) कर जैनेतरत्व स्थापित किया है। "अहिंसा' और "दिगम्बर जैन गजट" में इस मत के खंडन

करनेवाले कई एक लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं और कई अन्यत्र भी प्रगट होते होंगे।

जैन कुटुम्ब में जन्म लेने पर भी एकान्त उत्सूत्र परूपना और दुराग्रहपना आदिसे "जैनत्व" नहीं रहता है।

(२) जैनत्व का अभाव।

उम्मग-देसणाए चरणं विणासन्ति जिणवरिंदाणं।
वावन्नर-दंसणा खलु न हु लब्भा तारिसा देट्ठुं॥

भावार्थ—"ऐसे लोग उन्मार्ग का उपदेश देकर स्वयं अपना और दूसरी आत्माओं का जिनेश्वर देव के उपदेशानुसार का विश्व में प्रवृत्त चारित्र को नष्ट करते हैं।

क्योंकि—

"अरिहन्त प्रभु हमारे देव हैं" इत्यादि बाहरसे सम्यग् दृष्टि जैसा दिखावा करने की वचन और व्यवहार की चेष्टा करनेवाले होने पर भी वास्तविक रूप से वे "सम्यग्दर्शन" नष्ट कर चुके हैं, ऐसे लोग देखने योग्य भी नहीं है।" श्वेताम्बरीय शास्त्रों का भी यह अभिप्राय है।

जैन शास्त्रों की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले किसी को ही जैन मान लेने के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। क्योंकि जैन शास्त्रों को जैनेतर और विदेशीय विद्वान् वर्ग पढ़ लेते हैं।

केवल पढ़ लेने मात्र से ही 'जैन और जैन धर्मावलम्बीपना' नहीं माना जा सकता है।

यद्यपि जैनकुटुम्ब में जन्में हुए अल्प रुचि युक्त कई लोग शास्त्रीय ज्ञान नहीं रखते हैं तथापि जैन शासन के मार्गकी श्रद्धा और सद्‌भाव से अनुसरण करने से उनकी जैनता बाधित नहीं हो सकती है।

आज कल ऐसे-ऐसे नये मत निकालने वाले कई प्रकार की असत्य प्ररूपणा करते हैं, और उसके लिये कई प्रकार के प्रपंच, आडम्बर, नाच रंग और झूठ का आश्रय लेते हैं। और जैन शासन के स्वरूप को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

(३) जैनेतरत्त्व [अ-जैनपने] का मूल बीजक।

१—जैन धर्म का अति रोचक और हृदयंगम "निश्चय नय" को सन्मुख (आगे) रखकर अपना-अपना स्वच्छन्द—कल्पित-उपदेश इस जैनेतर मत द्वारा दिया जाता है। किन्तु निश्चय नय के ऐकान्तिक उपदेश को जैन शास्त्रकारों ने नास्तिकता का उपदेश कह कर नास्तिक बनाने में सहयोग देनेवाला ही माना है।

तेन ये क्रियया मुक्ता ज्ञान-मात्राऽभिमानिनः।
ते भ्रष्टा ज्ञान-कर्मभ्यां नास्तिका नाऽत्र संशयः॥३८॥

अ० उ० ३

भावार्थ—"उस हेतु से जो लोग क्रिया से दूर होकर मात्र ज्ञान का ही अभिमान रखते हैं, वे ज्ञान और क्रिया दोनों से ही भ्रष्ट, नास्तिक होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।"

ज्ञानोत्पत्तिं समुद्भाव्य कामादीनन्य-दृष्टितः।
अपह्नुवानैर्लोकेभ्यो नास्तिकैर्वञ्चितं जगत् ॥३६॥

अ० उ० ३

भावार्थ—"अपने को ज्ञान की उत्पति होने का बतलाकर दूसरी दृष्टि से लोगों से अपनी भोगेच्छाओं को छिपानेवाले ऐसे नास्तिक लोग जगत् को ठग रहे हैं।"

२—निश्चय नय के उपदेश को सामने रखकर, निश्चय सिद्ध धर्म के पोषक ऐसा व्यवहार नय सिद्ध--जैन धर्म के उपदेशों का साक्षात् अथवा परंपरया पूर्ण विरोध किया जाता है। उक्त मत के सभी प्रचारक और वक्ताओं का उक्त धार्मिक व्यवहार के उपर प्रबल प्रहार होता रहता है। और फिर भी धार्मिक व्यवहारों के नाम से स्वकल्पनानुसार कई प्रकार के व्यवहार चलाते हैं।

व्यवहाराऽनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम्।
कासार-तरणा-ऽशक्तः सागरं स तितीर्षति ॥१६५॥

अ० सा० १७

भावार्थ—"व्यवहार साधना में जो निष्णात नहीं है, और निश्चय को जो जानना चाहता है। वह तालाव को तो नहीं तैर सकता है, किन्तु समुद्र को तैरने की अभिलाषा करता है।" १९५

सन्मार्ग तो यह है कि—

व्यवहारं विनिश्चित्य ततः शुद्ध-नयाऽऽश्रितः।
आत्म-ज्ञान-रतो भूत्वा परमं साम्यमाश्रयेत् ॥१९६॥

आ० सा० १८

भावार्थ—"व्यवहार में निश्चित होकर जो निश्चय का आश्रय करता है, वह आत्म ज्ञान में निमग्न होकर उच्च प्रकार के समता योग का आश्रय कर सकता है।" १९६

उक्त चार श्लोकों से, जैन शास्त्रकारों का क्या अभिप्राय है? यह स्पष्टतया समझ में आ जायगा। दिगम्बर सम्प्रदाय का भी इसमें मतभेद नहीं है। यह आगे देखा जायगा।

"समय सार" नामक ग्रन्थ में व्यवहार-मूढ़ कहकर व्यवहार को जो निर्बल बतलाया गया है, उसका सच्चा आशय क्या है? यह समझ लेना चाहिये। वह आशय यह है कि अप्रमत्त भाव में रहे हुए निश्चय नयके सम्यग्दर्शन धारी श्रमण की दृष्टि में प्रमत्तभाव के सभी व्यवहार मिथ्यात्व

युक्त होनेसे उसके पालन करनेवालों को भी जो व्यवहार मूढ़ कहे हैं। यह उचित (संगत) ही है। जिसका यथा स्थान विचार किया जायगा।

३—यद्यपि अवान्तर मतभेदों, अमुक-अमुक कुछ निश्चित बातोंमें थोड़ा-थोड़ा फर्क हो जाने के कारणवश जैनशासन में कई एक नवीन सम्प्रदायों की उत्पत्ति, पूर्व कालसे होती आई है। किन्तु सोनगढ़ के अनुयायीके मत में तो महान् अन्तर है, जो कि जैन धर्म के मूल पर ही कुठाराघात करता है। सोनगढ़ के अनुयायी के उक्त मत के उपदेश और कार्यों द्वारा तो जैन शासन के मूलाधार को विकृत करके नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। आत्मवाद की बड़ी-बड़ी बातों की ओट में अनात्मवादी भौतिकवाद को पुष्टि प्रदायक प्रवृत्तियों के द्वारा प्रोत्साहन दिये जाते हैं जिसके द्वारा विश्व कल्याणकारी आत्मवाद को बहुत-बड़ा भारी धक्का लगे। जैन शासन याने आत्मवाद के केन्द्रकी जड़ मूल से उखड़ जाय, इस प्रकार के उद्योगों में संलग्न रहे हुए सोन-गढ़ के अनुयायि का मत जैनेतरपना रूप होकर भयंकर कोटि का सिद्ध हो जाता है।

(४) सोनगढ़ के अनुयायी के मत में क्या है ?

१—जैन शास्त्र मान्य व्यवहार नय से सिद्ध धार्मिक व्यवहार स्वरूप अंग को निषेध किया जाता है।

२--और निश्चयनय सिद्ध आत्मवाद का एकान्त रूप से प्रतिपादन (प्ररुपण) किया जाता है।

३--इस से जैनत्व नहीं रहता है, और अनात्म-वादी व्यवहारों को स्थान दिया जाता है। इससे आत्मवादी जैनेतरत्व भी नहीं रहता है, किन्तु अनात्मवादी जैनेतरत्व आ जाता है। यह रहस्य है।

जैन धर्म के निश्चय नय सापेक्ष आत्मवाद पोषक जो व्यवहार है। उसके धर्मोपदेश से विरुद्ध-निषेधात्मक उपदेश दिया जाता है और भौतिकवाद पोषक व्यवहारों का पालन प्रत्यक्ष और परोक्षतया रस पूर्वक किया जाता है, जिससे आधुनिक अनात्मवाद का ही पोषण होता है।

क्योंकि--व्यवहार बिना तो जीवन यापन हो ही नहीं सकता है। जैन शासन के आत्मवाद के अन्तर्गत चलनेवाले व्यवहार का जब निषेध किया जाता है, तब किसी न किसी प्रकार के व्यवहार के आश्रय बिना जीवन चल ही नहीं सकता। यदि दन्त धावन को छोड़ दें, तो ब्रश और टूथपेस्ट का उपयोग करना पड़ेगा। यह भी एक व्यवहार है। जिन आज्ञा युक्त विधानको यदि छोड़ दिया जाय तो बहुमत युक्त अनात्मवादी विधान के नियमों का स्वीकार करना ही पड़ेगा। मुनियों के अभाव में वर्तमान पत्र इत्यादि प्रचारक साधनोंका आश्रय लेना

ही पड़ेगा। इत्यादि कई एक दृष्टान्त हैं। वे उस मत में जैनेतरत्व का मुख्य बीज बताया गया है।

(५) दिगम्बर सम्प्रदाय से भी अलग रहने की युक्ति।

जिस तरह, दिगम्बर सम्प्रदायमें घुसनेके उस मतके प्रयत्नको उपरोक्त प्रकारसे ठुकराया जाता है। उस तरह सोनगढ़ मतके संचालक और अनुयायीगण भी दिगम्बर सम्प्रदाय में एक रस मय ओत-प्रोत होना नहीं चाहते हैं। इस प्रपंच को मन में छिपाये रखकर अपनी हस्ती अलग बनाये रखने की गूढ़ युक्ति के द्वारा अस्तित्व कायम कर रक्खा है। जिसका प्रमाण, "**दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल**" नामक स्वतन्त्र संस्था का निर्माण कर रक्खा है, जिस मण्डल में सोनगढ़ के अनुयायियों के मतको स्वीकार करने वाला ही प्रविष्ट हो सकता है, दूसरा नहीं। जिससे दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रवेश करनेके बाद भी अपने मतका स्वतन्त्रतया प्रचार किया जा सके। इससे भविष्य में दिगम्बर सम्प्रदाय में लड़ाई झगड़े का बीजारोपण के परिणाम की जो उद्घोषणा शास्त्री इन्द्रलालजी विद्यालंकार द्वारा हुई है, वह सर्वतोभावेन समुचित ही मालूम पड़ेगी। दिगम्बर सम्प्रदाय में फूट पड़ने से, उस मत वालों को दुःखित होने का कोई कारण नही है, किन्तु अपने मतके विस्तार से आनन्दको अनुभव करनेका ही प्रयोजन दृष्टिगोचर हो तो उसमें कौन सा

आश्चर्य है ? दिगम्बर सम्प्रदाय में भेद नीति के प्रयोग से अगर फूट पैदा हो जाय तो यह दि० सं० के लिये दुःखोत्पादक विषय हो सकता है। क्या दिगम्बर सम्प्रदाय में रहे हुए लोगों में मुमुक्षु गण नही है ? बस, सोनगढ़ के अनुयायी के मत में रहे हुए ही मुमुक्षु है, और बाकी के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी वर्ग तो संसार लिप्सु है ? यही सिद्ध करना उनका उद्देश्य है ? इस मर्म की ओर हम दिगम्बर सम्प्रदाय के नेताओं, अग्रगण्य सज्जनों का ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारा कहना तो यह है कि यदि दिगम्बर सम्प्रदाय को स्वीकार करना हो तो पूर्ण स्वरूप में, एक रस होकर करना चाहिये। अन्यथा डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग रूप से क्यों ? यह खूब विचारणीय ही है।

(६) जैनेतरता के सूचक निम्नलिखित और भी बीजक हैं :

१—गुरुतत्त्व
२—समय सार ग्रन्थका भयंकर दुरुपयोग
३—अनात्मवाद को प्रोत्साहन
४-—जिनाज्ञा विरुद्ध दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
५-—धर्मानुष्ठान के विरोध का प्रचार
६—इस मत का मूल
७—जैनेरतरत्व (अजैनपने) की संक्षेप में कुछ समझ

८—पुण्य बन्ध-आश्रव निर्जरा, संवर
९—उपादान निमित्त की चर्चा
१०—दिगम्बर सम्प्रदाय में स्थान किस तरह?
११—नाम और वेष
१२—एकान्त आत्मवादियोंको अनात्मवादियोंका सहयोग
१३—धर्म तत्त्व की सर्वाङ्ग वफादारी नहीं।
१४—व्यापन्न दर्शनता और पुद्गलानन्दीपना
१५—स्वमत को प्रमाणित करने में भय।
१६—शासन-रक्षा में उपेक्षा
१७—श्री संघ से निरपेक्षता
१८—जिनाज्ञा और जैन शासन से निरपेक्ष जैनों का सहयोग

१—गुरु तत्त्व :—

जैन शासनमें और उसके सभी सम्प्रदायोंमें वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देव, और ऐसे देव का आज्ञाधारी और पंच महाव्रतधारी त्यागी को धर्म गुरु तत्त्व में समावेश किया गया है। गृहस्थ तो व्यक्तिगत गुरु हो सकता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी दिगम्बर जैन मुनि ही गुरु हो सकते हैं। गृहस्थवासी, गुरु नहीं हो सकता है। और सन्त भी मुनि ही हो सकते हैं। स्वयं दिगम्बर मुनि न होने पर भी और

गृहस्थ होने पर भी कोई दिगम्बर जैन मुनि को अपना गुरु मान लिया हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। व्रत, नियम, प्राय-श्चित्त आदि किस की पास लिया जाय ? किन्तु स्वयं गुरु को अन्य गुरु की क्या आवश्यकता है ?

अब आप देखिये विशेषणों की भरमार :–

"सोनगढ़ के सन्त"	सत्पुरुप
आत्म-धर्म-प्रवर्तक	मंगल विहार करते-करते आये
महान् गुरूदेव कहान प्रभु,	विश्व उद्धारक
अध्यात्म योगी	धार्मिक प्रवचन
चैतन्य विहारी	परमपूज्य गुरुदेव
सद्धर्म प्रभावक	सद्गुरु
वीतराग धर्मोपदेष्टा	उनकी आत्मकल्याणकारिणी
आत्मज्ञ	संसार ताप विनाशक वाणी

सर्वज्ञ के दूत, दिव्य पुरुष, अध्यात्मतत्त्व वेत्ता

इत्यादि शब्दों में कितनी अतिशयोक्ति पूर्ण असत्योक्ति दिखाई देती है ? अपने को इस तरह की श्रेणी में माननेवाला व्यक्ति किसी और को अपना गुरु मान सकता है ?

उसके अनुयायी वर्ग भी उसको छोड़कर दूसरे को गुरु रूप में मान सकते हैं ? नहीं मान सकते हैं। तिस पर भी दिगम्बर सम्प्रदायके वर्तमान मुनिगण—दया, दान, व्रत,

प्रत्याख्यान और षड़ावश्यक इत्यादि का जब गृहस्थ को उपदेश देते हैं। मुनि-दीक्षा का उपदेश देते हैं, तब सोनगढ़ मत उन धार्मिक व्यवहारों का निषेध करता है। जब समयसार के प्रमाण को सामने रखकर व्यवहार का निषेध किया जाता है। इस प्रकार समयसार की दृष्टि से दिगम्बर सम्प्रदाय के मुनि के उपदेश में दोष दिखाया जाता है। तब उनको गुरु तत्त्व में कैसे माना जाय ? अनुयायी वर्ग, सद्गुरु देव, श्रुत-केवली इत्यादि जो कुछ—भी विशेषण मिल जाय वे उसको देते ही रहते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में—अनग्न अवस्था में षष्ठ गुण स्थानक से लेकर ऊपर के सभी गुण स्थानक प्राप्त नहीं होते हैं। तो वस्त्रधारी 'चैतन्यविहारी' कैसे हो सकते हैं? यह सभी बातें दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के विरुद्ध समझी जाती हैं, किन्तु फिर भी दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्यान्य त्यागी मुनियों के जैसे गुरुपने के पद की श्रेणी में अपने को मानने का उनका आग्रह और मनोवृत्ति रहते हैं। अन्यथा यह प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

दिगम्बर ब्रह्मचारी को भी गुरुनिश्रा की आवश्यकता होती हैं। किन्तु और किसी को भी गुरु मानने की वृत्ति ही नहीं। श्री सीमंधर स्वामीजी के पास से श्री कुन्दकुन्दस्वामी

जी के पास रहस्यात्मक आत्मज्ञान आया और तत्पश्चात् सोनगढ़ मत के प्रचारक के पास आया। बस, बीच में कोई और भी दिगम्बराचार्य के पास वह रहस्यात्मक आत्मज्ञान नहीं था, उस मनोवृत्ति का पूरा प्रमाण सोनगढ़ के मण्डप के चित्रावलोकन से मिल जाता है। सुना गया है कि श्री सीमंधर प्रभु के मुख से वाणी निकलकर आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के कान में गई, आचार्य के मुख से निकलकर 'कहान प्रभु' के कान में गई, उनके मुख से निकली भक्त श्रोतागण सुनते हैं" ऐसा चित्र बनाया गया है। अतएव जब प्राचीन दिगम्बर सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों को भी रहस्यात्मक आत्मज्ञानं श्री कुन्दकुन्द स्वामी के पास से नहीं मिला था, तब आजकल के दिगम्बर जैन मुनि की कौनसी गिनती हो सकती है! बिल्कुल नहीं हो सकतो है। गह सरलता से समझ में आ सकता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा माना गया गुरु-तत्त्व में उसकी दृष्टि कितनी विकृतिपूर्ण है? यह तो पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं। जब दिगम्बर मुनि वस्त्र-रहित रहते हैं, और स्वयं शरीर को वस्त्र से पूरा ढँककर रखते हैं, यह वर्तमान पत्र में प्रसिद्ध फोटू से मालूम पड़ता है। वाहन पर सवारी करनेवाले को 'मंगल विहार' कहा कैसे जा सकता है?

दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य 'गुरु तत्त्व' की अनादरता

(आशातना) को दिगंबर संप्रदाय किस तरह सह सकता है ? जिनाज्ञा और दिगंबर संप्रदाय के शास्त्रों से भी विरुद्ध गुरु-तत्त्व को मानना, प्रचारना आदि की उपेक्षा दिगंबर संप्रदाय किस प्रकार से कर सकता है ? क्योंकि यह भी एक प्रकार से उन्मार्ग का ही प्रचार है।" साथ ही यह तुर्रा और है कि जो इन कार्यों से बहुत कुछ विरक्त और उदासीन हैं, ऐसे दिगम्बर जैन मुनियों की अवहेलना करते हैं और उनको अपने से सदैव नीचा अनुभव करते और बतलाते रहते हैं।"×

२. 'समयसार' ग्रंथ का भयंकर दुरुपयोग

आत्मवादी लोगों में अनात्मवादी भौतिकवाद के प्रचार का एक तरीका यह है कि "सब कुछ आत्मा ही है और कुछ नहीं है। आत्मध्यान करो, आत्ममय बनो, आत्मा को जाने बिना सब साधना झूठी है।" इस तरह अप्रमत्त मुनि की भूमिका को प्राप्त करने के पहले ही ऐसी कोरा आत्मवाद की धुन में लगा दिये जाँय, तब अनात्मवादी जीवन-व्यवहार का विरोध करनेवाला आत्मवाद है, उसके जीवन-व्यवहार धार्मिक आचार-प्रवृत्ति आदि इस तरह से छूट जाय, और परिणाम में आत्मा की धुन रहनेपर भी सांसारिक खान-पान भोग आदि में मस्त रह जाय।

× पुण्य धर्ममीमांसा, पृष्ठ १२

इस तरह से आत्मवादी व्यवहार जीवन से उठ जाने से और उसके स्थान पर कई अनात्मवादी व्यवहार स्थापित होते रहते हैं, इस तरह आत्म-वादका प्राण नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है। यह सहज में समझ में आ सकता है। वास्तव में—अप्रमत्त भाव प्राप्त मुनि को जो अवस्था प्राप्त होती है, उस अवस्था को यदि मिथ्यात्वादि स्थिति में स्थित प्रमत्त जीव अपना ले, तो इससे महान् अनर्थ फैल जाय। और ऐसा मानव धार्मिक आचार-अनुष्ठानों का विरोध करता ही रहे। जिससे परिणाम में जड़वाद फैलता रहे।

इस प्रकार के परिणाम लाने के लिये आज के अनात्म-वादियोंको कोरे आत्मवाद का प्रचार आवश्यक होता है।

इस प्रकार के प्रचार के लिये कुछ प्रामाणिक जैसा साधन भी तो चाहिये। जिसमें धार्मिक लोक विश्वास करे। उस साधन में शुद्ध आत्मवाद के स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाला साहित्य उपयोग में आ सकता है। जैसे वेदान्त का "ब्रह्मवाद" जैन दर्शन की निश्चय नयात्मक आत्मा की प्ररूपणा। बस, या तो "आत्मा है ही नहीं, साबित हुआ ही नहीं है" अथवा "आत्मा का अस्तित्व मानना ही भ्रम है, खावो, पीवो, मौज करो, पुण्य पाप कुछ नहीं है" ऐसा चार्वाकादि का नास्तिक वाद भी आत्मा के विकास के प्राथमिक मार्ग—पुण्य, धर्म,

सदाचार, व्रत, नियमादि को उठा देता है। कोरे आत्मवाद, कोरे ब्रह्मवाद और जैन शास्त्रोक्त आत्मवाद को एकान्त निश्चय नय में घटाने की रट से भी धर्म मार्ग बन्ध हो जाता है। जिसके परिणाम में अनात्मवादी-भौतिक-जड़ता की जड़ मजबूत बन जाती है। इससे "आत्मा है ही नहीं" और "आत्मा को शुद्ध करो, और कुछ नहीं" यह दो शस्त्र आत्मवाद को तोड़ने के लिए उपयोग में लिये जाते हैं। "समयसार" ग्रन्थ आत्मवादी ग्रन्थ है। किन्तु उसमें व्यवहार सापेक्ष निश्चय नय सिद्ध आत्मवाद का मुख्य वर्णन होने से व्यवहार का बहुत ही स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। क्योंकि उसका निषेध भूमिका सापेक्ष है, इससे वहाँ उस ग्रन्थ के विषय के साथ सुसंगत है। वर्तमान में इस ग्रन्थ का उपयोग कर प्राथमिक आदि कक्षा के पात्रों के लिये भी धर्म व्यवहार का निषेध किया जाता है। इस रीति से उक्त ग्रन्थ का बड़ा भयंकर दुरुपयोग किया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के कोई पूर्वाचार्य ने ऐसी उद्दंडता नहीं की। इसका कारण यही है कि-समयसार का यथार्थ रहस्य और आशय उन्होंने पाये थे।

जिसको आत्म-सिद्धि का परिणाम प्राप्त हो जाता है, उसको धर्म, व्रत, पुण्य आदि प्राथमिक कोटि के कार्य करने को रहता नहीं, और जिसने आत्मसिद्धि का उच्च परि-

णाम पाया नहीं है, उसको उस मार्ग में शनैः-शनैः ले जाने वाला आचरण का मार्ग ही है, उसको यदि बन्द किया जाये, तो फिर जिनोक्त धार्मिक व्यवहार के उपदेश का विधान किस के लिये है, उसकी निष्फलता साबित हो जाती है। क्योंकि जिसका आत्मा शुद्ध हो गया हो उसको कुछ करनेका नहीं रहता है, जिसका आत्मा शुद्ध न हुआ हो, "उसको भी कुछ करना न चाहिये" यह उपदेश दिया जाय, तो उन व्रतादि को किस तरह अवकाश मिले? इससे वह प्रचार जिनाज्ञा विरुद्ध सिद्ध हो जाता है। यह अनर्थ! यह समयसार का भयंकर दुरुपयोग!

यह "मुमुक्षु मंडल" के सभी सभ्यगण आज के काल में शक्य श्री जिनोक्त सभी प्रकार के धर्माचरण करते हैं? क्यों नहीं करते हैं? और क्यों निषेध करते हैं? क्या सप्तम गुण स्थानक की आत्म स्थिति प्राप्त हो चुकी है? यदि चतुर्थ गुण स्थानक की प्राप्ति हो चुकी है, तो अवश्य ही धर्माचरण की अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है। यदि चतुर्थ गुण स्थानक की अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, तो दूसरे जीवों में और मुमुक्षु मंडल के सदस्यों में फर्क क्या? और ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण, उच्चारण भी क्यों किया और कराया जाता है? "शुभ बन्ध के लिये शुभ भावात्मक यह क्रिया कराई जाती है।" तो औरों के लिये निषेध किया जाता है? क्यों?

मिथ्यात्व की वह क्रिया व्यवहारमूढ़तात्मक हो जायगी, तो सम्यग्दर्शन विना उक्त व्रत का उच्चारण क्यों ? यदि सम्यग्दर्शन हुआ है, तो जैन शास्त्रोक्त और व्रतादि का निषेध क्यों ? और ब्रह्मचर्य का व्रत देकर 'समय सार' की आज्ञा का भंग क्यों ? उन दृष्टिओं से देखा जाय, तो कोई व्यवस्थित रीतिसे मत का संगठन नहीं है और समय सार ग्रन्थ का दुरुपयोग किया जाता है। जिससे उसकी आशातना और ग्रन्थकार की और तत्स्थ उपदेश या प्ररूपणा की भी बड़ी आशातना की जाती है यह स्पष्ट हो जाता है। यह भी एक अनात्मवादी जैनेतरत्व का प्रबल प्रमाण है। उस मत की दृष्टि से सम्यग्दर्शन बिना ब्रह्मचर्य का प्रचार मिथ्यात्व रूप है। यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है, तो शेष क्रिया का निषेध भी-मिथ्यात्व का प्रचार ही ठहरा। देश विरतिपना की अवस्था के गुणस्थानक प्राप्त किये विना स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन क्यों करते हैं ? और गुण स्थानक प्राप्त हुआ है, तो तद्योग इतर क्रिया का निषेध क्यों ? यदि वह अभ्यास क्रिया–भद्र ध्यान है, तो औरों के लिये निषेध क्यों ? इस मत में कोई प्रमाणभूत व्यवस्था है ही नहीं। इससे उसका वह आत्मवाद का उपदेश अनात्मवाद-भौतिकता का प्रचार का हेतु बन जाता है। और आत्मवाद को उठानेवाले का उद्देश्य की सफलता में परिणत हो जाता है। इस तरह–आत्मवाद का प्रचार अनात्मवाद के

प्रचार का हेतु बन जाता है और ऐसा आत्मवाद मिथ्या दर्शनों से भी आगे बढ़ जाने के कारण महामिथ्यात्व के प्रचारक मत की कोटि में स्वयं ही बैठ जाता है, जो इस मत की जैनेतरत्व की सिद्धि का प्रबल साधन बन जाता है।

३—अनात्मवाद का प्रोत्साहन

बाल जीवों को भी मन्दिर, उपाश्रय आदि धर्मस्थान धर्म प्राप्ति के लिए छोटी बड़ी दुकानें हैं। और प्रत्येक आत्मवादी धर्म-धर्म का शासन–धर्म प्राप्त करने के छोटे बड़े बाजार हैं। जिसमें जाने के लिए निषेध (मनाई) का लक्ष्य रख कर उनके सामने प्रोटेस्ट-प्रतिवाद करने के रूप में जुदा चौका जमाकर कोरे आत्मवाद का प्रचार किया जाता है। वर्तमान राज्य पद्धति द्वारा संचालित सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं का भी वर्तमान में यही लक्ष्य है। जिसका मूल ब्रिटीश ने बोया है। यही कारण है कि–आधुनिक शिक्षा सम्पन्न युवक युवतियाँ और तत्सम्पर्क से व्यापारी आदि धनिक वर्ग में भी परम्परागत धर्म स्थानों में जाने की अरुचि बढ़ रही है। और नाटक सिनेमा आदि में रुचि बढ़ती जा रही है। कौटुम्बिक संस्कारों से कई एक कु प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रहता है। और व्रत नियमादि होते रहते हैं, किन्तु यह कोरा आत्मवाद का उपदेश उनको पराङ्मुख करने में–छुड़ाने में सहयोगी बन

जाता है। जिस प्रकार से पतन पानेवाले को-गिरनेवाले को–यदि ढकेल दिया जाय, ढाल में दौड़ाया जाय, और पीछे से धक्का दे दिया जाय, तो उसका शीघ्रतम गतिवाला—जोरदार-पतन होता है। उस प्रकार सर्व साधारण प्रजा का पतन करने में सहयोगी रूप से अनर्थकारी यह प्रचार हो जाता है। इससे इस मत का अनात्मवाद के प्रचार में सहयोग है, और अनात्मवादी आधुनिक भौतिकवाद का इस मत को सहयोग है, क्योंकि दोनों परिणाम प्राप्त करने में समान हैं परस्परके पूरक हैं। एक लक्ष्य को सिद्ध करने का मात्र भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। जिससे दोनों की दोस्ती बनी रहती है।

४––जिनाज्ञा विरुद्ध दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल (?)

जो इस मत का प्रचारक मंडल है, उसका विधान जिनाज्ञा से विरुद्ध है। क्योंकि–यह आधुनिक ढंग का है। जिसमें प्रमुख-ट्रस्ट आदि शब्दों का उपयोग रहता है। जिनाज्ञा के विधान में अग्रसर, वहीवटकर्ता आदि शब्द रहते हैं। जिसके अर्थ में बहुत फर्क है। और जिनेश्वर देव का प्रतिनिधित्व धर्म गुरु में आता है। धर्म संचालनके सभी प्रकार के जिम्मेवार धर्मगुरु रहते हैं। सच्चा मार्ग यह है कि-उस मतके सभी अनुयायियों को दिगम्बर सम्प्रदाय में विधि पूर्वक सम्प्रदायमान्य गुरु की आज्ञा से ही प्रविष्ट होना चाहिये, और परम्परा

के विधान के अनुसार कार्य करना चाहिये। किन्तु ऐसा अपने मनमाना नाम रख लिया, और संस्था बना ली, फिर सम्प्रदाय में प्रवेश करने का किस तरह योग्य हो सकता है ? ऐसे तो कई जैन बन जायें, और आकर जैन धर्म की धूल उड़ा दें, ऐसी अराजकता खतरनाक है।

जिनाज्ञा के अनुसार धर्मक्षेत्र में प्रतिनिधित्व धर्म गुरु को ही जब प्राप्त होता है, और संघकी सभा में जिनाज्ञा के अनुसार अभिप्राय को ही स्थान मिलता है। किन्तु अनुयायियों के व्यक्तिगत मताधिकार को कोई स्थान नहीं है। जिनाज्ञा के विधान में अधिकारी वर्ग की ऊपर से नियुक्ति होती है, व्यक्ति से आरम्भ कर चुनाव नहीं होता है। अतः इस मुमुक्षु मण्डलका परम्परागत विधान और उसकी शिस्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ अलग ही है। और दिगम्बर सम्प्रदाय का गठन परम्परागत विधान के आधार पर ही चला आता है। सोनगढ़ के मत में विधान की तरह प्रचार कार्य, व्यवस्था तंत्र, व्यक्तिगत जीवन व्यवहार इत्यादि में भी बहुत अंश में आधुनिकता-मूलक आधार-शिला रक्खी गई है, और वह ठीक मानी जाती है। कवि राजचन्द्रजी भी इस तरह की छाया के नीचे आ गये थे। जिससे जैन शासन संस्था, जैन संघ, जैन शास्त्रोक्त

व्यवस्था इत्यादि में निरपेक्षता रखकर अपनी विचारधारा का प्रचार किया था। किन्तु उस समय निरपेक्षता रखने का प्रारम्भ मात्र था। यही मूलभूत दोष इस मत में बड़े रूप में आ गया है। इस मण्डल की सभी सम्पत्तियाँ और इसकी व्यवस्था तथा उपयोग भी इस मण्डल के उद्देश अनुसार अपने मत के पोषण में किया जाता है। जिस पर, जहाँ तक इस मतका स्वतन्त्र अस्तित्व रहेगा, वहां तक दिगम्वर सम्प्रदाय अपना पूरा अधिकार नहीं कर सकता है। यह रहस्य भी प्रसंग पर खुला हो जायगा। जिनाज्ञा प्रधानविधानादि के विरुद्ध संस्था का संगठन भी जैनेतरत्व (अजैनपने) का बड़ा कारण बन जाता है। भीतर में घुसना और अपना चौका जुदा वना रखने की युक्ति सौराष्ट्र के वकील रा० मा० की बुद्धि का अद्भुत नमूना है। दूसरे भद्रलोग इसमें क्या समझ सकें ? भवभीरुता रहती और जिनाज्ञा का भंग से हृदय कांपता, तो इस तरह का शासनोच्छेदक पाप कार्य न शिष्य करते, न गुरु उसमें सहमत रहते।

५ धर्मानुष्ठान के विरोध का प्रचार।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यजी ने तो इस तरह दीक्षा छोड़कर, अलग मत जमाने की चेष्टा नहीं की थी। यदि यह मत सत्य होता, तो वे भी त्याग को छोड़कर पुद्गलानन्द में मस्त रहते, किन्तु उनको इतनी असत्यता का स्पर्श नहीं हुआ था।

श्री आचारांग सूत्र में बीजात्मक श्री जिनोक्त सापेक्ष निश्चयनय के आत्मवाद का जो स्वरूप है*, उस विषय को ही विस्तार से स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में समयसार में संग्रह किया गया है। और पूर्व परम्परा से चली आती सूक्ष्म और जानने योग्य कई बातें एक स्थानपर रख दी गई हैं।

प्रमत्त भाव में नीचे उतरने से रोक देने के लिये, और अप्रमत्त भाव में स्थिर होते रहने के लिये श्रमण मुनि को

---

*१—"जं सम्मं, तं मोणं। जं मोणं, तं सम्मं॥"

२—"अपयस्स पयं नत्थि।"

३—"से ण दीहे, ण हस्से०" इत्यादि

४—"आया खलु सामाइयं।" श्री भगवती सूत्र।

५—"एगे आया।" श्री ठाणांग सूत्र

अर्थ १—"जो सम्यक्त्व है, वही मुनिपना है। जो मुनिपना है, वही सम्यक्त्व है।"

२—"स्थान रहित को स्थान नहीं है।"

३—"वह आत्मा-न दीर्घ है, न ह्रस्व है, इत्यादि

४—"आत्मा ही सामायिक है।"

५—"एक आत्मा है।"

[श्री शास्त्रकारों ने निश्चयनय का सम्यग् दर्शन सप्तम गुण स्थानक से बताया है, निश्चयनयका सम्यग् ज्ञान निश्चयनय सिद्ध आत्म-भान युक्त श्रुतकेवली को होता है, यथाख्यात चारित्रकी अवस्था को निश्चयनयका सम्यक् चारित्र कहा है।]

उपदेशात्मक भी यह ग्रन्थ है। और महामुनिवर किस तरह आगे बढ़ते हैं ? और आगे के मार्गमें आत्मानुभव किस-किस प्रकार होता जाता है ? उन सभी का शास्त्रानुसारी स्वरूप उसमें बताया गया है।

श्रेणि प्रस्थापक को मुनि जीवन के प्रचलित कई धार्मिक अनुष्ठान छोड़कर धर्म-संन्यास करनेका होता है, क्योंकि-वे सभी भावानुष्ठान के रूप में आत्मा में ही परिणत होते हैं। इत्यादि कई आशयों को लक्ष्य में रखकर प्रमत्त भाव की समग्र अवस्थाओं को—मिथ्या दर्शन रूप——व्यवहार मूढ़ता रूप–पुण्याश्रव रूप बतलाकर अधर्म कहा गया है, तो उसमें अपेक्षा विशेष से कोई असंगति नहीं है, कोई विरोध नहीं है। समय-सार की १४५ वीं गाथा में जो 'पुण्य को धर्म माननेवालों को सर्वज्ञ के मत से बाहर' कहे गये हैं, यह भी सापेक्ष वाक्य है, निश्चयनय की दृष्टि से वह बराबर है, क्योंकि समयसार जैन-धर्म का प्रारम्भ भी सप्तम गुण स्थानक से ही निश्चयनय के अभिप्राय से बतलाता है। तथा जो अन्य दर्शनीय लोग एकान्त से पुण्य को धर्म कहते हैं, वे भी अवश्य सर्वज्ञ के मत से बाहर हैं। इस तरह से जो पुण्य क्रियाको एकान्त से धर्मतया निषेध करते हैं, वे भी सर्वज्ञ के मत से बाहर ही सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि-जिन मत में एकान्त को स्थान नहीं है। धर्माचरणों के

विरोध की हवा विदेशियों ने चलाई थी, उस में इस तरह उच्च कक्षा की बातें आगे कर, जैन शास्त्रग्रन्थ के प्रमाण के नाम से, महा अनर्थ में सहयोग देकर, जैन शासन के मूल में आग लगा दी गई। और विदेशियों को अपने आदर्श की शिक्षा का पूरा प्रचार करने का था। इस हेतु से वे लोग "ज्ञान" का प्रचार करने की हवा चला रहे थे। उस हवा का आश्रय स्वतंत्र रूप में लेकर स्वाध्याय प्रवृत्ति चलाई गई। स्वाध्याय करना, शास्त्र का अध्ययन करना यह कोई दोष की बात नहीं है, किन्तु जैनधर्म के सभी पक्ष में प्रचलित धर्माचरण एवं मन्दिर-उपाश्रय आदि की सभी प्रवृत्तियों के प्रतिवाद-विरोध के रूपमें-वहां न जाकर स्वतन्त्र रूप में-यह प्रवृत्ति चलाई जाती थी। आज भी वही हाल है। प्रतिवाद व्यक्ति विशेष के सामने नहीं, किन्तु परम्परागत प्रचलित धार्मिक संस्था के सामने किया जाता है। परिणाम में—अपनी सभी संस्थाएँ अलग——स्वतन्त्र रूप से खड़ी की गईं। यह अनात्मवाद प्रचारक प्रवृत्ति में सहयोगात्मक और धार्मिक संस्थाओ के प्रचलित प्रवृत्ति के प्रतिवादात्मक होने से, स्पष्टतया अजैनपने का लक्षण बन जाता है। यद्यपि ऐसा वर्ग का अस्तित्व प्रत्येक धर्म में बढ़ता जाता है, उसी तरह का यह मत भी है। विदेशियोंने प्रत्येक धर्म में फूट पैदा करने का जो तरीका लगाया है, उसका यह परिणाम-स्वरूप है। प्रजा न उच्च कक्षा में जा सके, न

प्रचलित स्थिति में स्थिर रह सके, उभय भ्रष्ट होकर धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाय।

६ इस मत का कुछ मूल

सोनगढ़ मत में संख्या की भर्ती कहाँ से होती है? अधिकतया स्थानकवासी सम्प्रदाय से होती है। सौराष्ट्र में धुरंधर आचार्यादि का विहार कम मालूम पड़ा है, श्रीविजयसेन सूरीश्वरजी का विहार दीव से जामनगर तक हुआ था। पीछे से इस्ट इण्डिया कम्पनी का संधि-विग्रह काल चला। इसमें विहार सारे भारत में लगभग १७५७ से १८५७ तक लगभग कम रहा। जो ज्याँ, वह त्याँ रहकर धर्म की रक्षा करने में व्यस्त रहे हैं। वह समय शिथिलता का था, तथापि दि० भट्टारकों ने तथा श्रीपूज्यपुरुषों ने यथा शक्य धर्म रक्षा दीर्घ दृष्टि से की। शुरू में स्थानकवासी मुनि वर्ग ने त्याग-तप-संयम खूब कड़े स्वरूप में बताये हैं। उनको जैन मुनि मानकर, सौराष्ट्र में उस सम्प्रदाय को अनुयायी वर्ग मिलते गये, और अनुष्ठानों की खूब कड़ाई की हवा फैली। इधर बम्बई में आधुनिक हवा प्रचलित हो चुकी थी। सौराष्ट्र में आधुनिक शिक्षा का प्रचार वेग से चल रहा था, उस स्थिति में, प्रचलित धार्मिक स्वरूप से शिक्षितों में उद्विग्नता फैलाई जाती थी, वे लोक धार्मिक स्थानों में कम जाने लगे। और

जुदा चौका बनाने का प्रारम्भ हुआ था। इसमें कवि राजचन्द्रजी निमित्त बन गये। तथापि स्थानकवासी संप्रदाय के मुनि वर्ग उससे अलिप्त थे। स्था० मुनि कानजी स्वामी को युवावस्था में कवि राजचन्द्रजी का साहित्य पढ़ने में आया। उनके दिल में उसकी असर वृद्धिंगत होती गई। स्थानकवासी संम्प्रदाय में भी इस हवा का संचार शुरु हो चुका। शिक्षितवर्ग और आधुतिकता से वासित गृहस्थ वर्ग आकर्षित होते गये। समयसारादि प्रधान दिगम्बर ग्रन्थ छप चुके थे। उसका वाचन शुरू हुआ। आकर्षण बढ़ा। स्था० सं० में कितनेक खास अनुष्ठानों की कड़ाई थी, किन्तु तात्त्विक ज्ञान मार्ग का बोध लगभग नहींवत् था। पूर्वाचार्यों के ग्रन्थोंको अप्रमाण मानकर अस्पृष्ट बना दिये थे। टीका, निर्युक्ति, भाष्य आदि की भी वही स्थिति कर दी गई। संस्कृत प्राकृत पढ़ने को भी निषिद्ध ठहरा दिया गया। मूल सूत्रों में से भी मात्र ३२ रखे गये थे। सूत्रों में से गुरुगम बिना रहस्यात्मक तत्त्वज्ञान कैसे मिल सके? प्रकरणादि भी नहीं रखे। मात्र सूत्रों पर से निष्पन्न किये गये थोकड़े रटे जाते थे। इस स्थिति में निश्चय-नयात्मक आत्म ज्ञान की झलक सुनने में-वाचने में आ गई। एकतो आधुनिक शिक्षा से प्रचलित धर्मप्रवाह से दूर-दूर भागते थे, इसमें ऐसी रोचक वस्तु मिल गई! पिछे क्या पूछना? भूखा, जंगल से आया, ताप सहन किया, और मिष्टान्न मिला,.

अजीर्ण हो जाय इस रीति से और इतना खाने लग जाय, तो क्या स्थिति होवे ? इस स्थिति में इस हेतु से इस मत का जन्म हुआ। इसमें सौराष्ट्र के स्था० संप्रदाय के अधिक वर्ग प्रविष्ट हुए है। व्याख्यानकार स्थानवासी साधु ने स्था० साधु पना छोड़ा, उसका भी आकर्षण रहा। फिर वकील रामजी भाई जैसे आधुनिक ढंग-कुशल व्यक्ति भी स्था० सम्प्रदाय को छोड़कर मिल गए। नया चौका जमाने का प्रबन्ध शुरू हो गया।

पूर्वाचार्यों से चले आते कई अवान्तर तथापि मुख्य-मुख्य मत भेदों के साथ भी श्वे० शासन और दि० सं० श्री तीर्थंकरादि पूर्व पुरुषों के वैध मार्ग की मर्यादा में चले आते थे। और इस्लाम आदि के समय में तो धर्म पर का आक्रमण दोनों मिल कर हटाते रहते थे। किन्तु, उस वैध जहाज में छिद्र रूप से यह नया चौका मूल की जड़ उखाड़ने वाला निकल गया। दिगम्बर सम्प्रदाय का स्वीकार से भड़क कर कवि राजचन्द्र के अनुयायी वर्ग इससे दूर रहे हैं। किन्तु आधुनिकता से वासित लक्ष्मीपति शेठ नानालाल कालीदास जसाणी, सर हुकमीचन्दजी इत्यादि आकर्षित हो चुके। सुना जाता है कि "सौराष्ट्र आदि में दि० सम्प्रदायका प्रचार की लालच में फंसकर सर हुकमीचन्दजी ने आर्थिक सहयोग भी दिया है" जो कुछ हो। किन्तु कदाचित् अखाद्य बिना मूल्य का भी मिल जाय, या तो

खानेवालेको ऊपरसे अच्छा इनाम-पुरस्कार भी दिया जाय, तो क्या अभक्ष्य भक्षण किया जाता है ? धर्म मार्ग की नींव खोद देवे ऐसा हथियार का उपयोग किया जा सकता है ? यह मत आत्मवाद की बातें कर, परिणाम में आधुनिकता का पुरस्कार करता है। इसका दूसरा रूपान्तर पंडित सुखलालजी आदि पंडित वर्ग, परमानन्द कापड़ियाजी सत्य भक्त का डींग हांकने वाले पं० दरबारीलालजी, ओर कई भी दिगम्बर-श्वेताम्बर व्यक्ति के रूप में पनप रहे हैं, जो धर्म का सच्चे अर्थ में मात्र नाम ही जानते है, और अधिकतर अंश में आधुनिक रंग से ही रंगे हुए हैं, और अनर्थ मचा रहे हैं। जिसका विस्तार बढ़ेगा।

इन सभी अनात्मवादके पोषक प्रवाहो का परोक्षतया पोषण सर्व धर्म पार्लियामेन्ट, विश्वशान्ति परिषद् इत्यादि से होता है। उन सबका भी पूरा स्वरूप केन्द्रित करने के लिए अब युनस्को संस्था तैयार की गई है, जो आधुनिकता की दृष्टि से सारे आत्मवादी धर्मों को अनात्मवादी विश्व शान्ति में परिणत कर उलट पुलट कर देने के लिए क्रमशः सचेष्ट हो रही है। जिसमें श्वे० ते० मु० भीखणजी के मत से भी दूर जाकर आचार्य तुलसी ने और श्री शान्तिप्रसादशाहूजीने जैन सेमिनार (अध्ययन) और जैन प्रदर्शन को वहाँ स्थान देने में सहयोग देकर श्री तीर्थं-कर प्रभु स्थापित जैन शासन के मूल में भयंकर सुरंग चांपने

में सहयोग दिया है। और युनस्को के जनरल डायरेक्टर डॉ० लूथर इवेन्स का प्रयत्न में पूरी सफलता भर दी गई है। मी० ज्योर्ज नामक यूरोपीय गृहस्थ जैन मुनिका कुछ बाह्य आकार रखकर फिरता है। उससे भी क्या अनर्थ होगा ? संक्षेप से बताया गया धर्मोच्छेदक आधुनिक प्रवाहों का यह रहस्य मर्मज्ञ विद्वान वर्ग समझ सकेंगे।

इस सोनगढ़ मत की उत्पत्ति का अति संक्षेप में मूल बीज-मूल भूमिका-इर्द गिर्द के बल प्रवाहों, इत्यादि बताये गये हैं। इससे यह बड़ी भारी खतरनाक चीज है। इससे उसको अजैन-पनायुक्त मानने में कोई बाधा नहीं हैं।

पण्डित इन्द्रलाल विद्यालंकारजी का भी यह कहना है कि 'चाहे इस समय कुछ धनिक लोग धन के बल पर अथवा अपने अधीनस्थ जन बल के आधार पर इस मार्ग को सरलता के कारण अपनावें, और ऐसे आध्यात्मिक संत कहलानेवालों को केवली श्रुत केवली या तीर्थंकर भी माने या भगवान कुन्द-कुन्दाचार्य स्वामी के बाद और किसी को वैसा न समझ उन्हीं को माने और उनको ऊँचे से ऊँचे स्थान देने में एडी से चोटी तक पसीना बहाकर पूरी शक्ति लगादें परन्तु भावी पीढ़ियों के लिए धार्मिक दृष्टि से यह उद्योगपरम्परा अनर्थ-कारक ही साबित होगी।

इसलिये दूरदर्शी विवेकशील दिगम्बर जैन समाज के अगु-

आओं का कर्त्तव्य है कि भविष्य में धर्मविध्वंसकारिणी इस चारों ओर मुंह फाड़कर बढ़ती हुई बाढ़ का नियंत्रण करे।

और इन आध्यामिक संत कहलाने वालों को समझावें कि लोकैषणा मान्यता आदि के मोह-से मिथ्या मार्ग और जैनागम के विरुद्ध विष संचार न करें।"

[पु० ध० मी० पृ० ४१-४२]

"जो अपने को सम्यग् दृष्टि कहते या बतलाते हुए भी भगवान् की पूजा तथा दानादि को हेय बतलाते हैं, वे यदि पूजा करते हैं, मन्दिर भी बनवाते हैं, प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराते हैं, तो भी वे मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि, वे तत्त्व श्रद्धा से शून्य हैं।" [पु० ध० मी० पृ० १७]

"शास्त्रज्ञ निष्पक्ष विवेकशील महानुभाव सोचें कि समयसार की रटन्त लगानेवाले ये आध्यात्मिक सन्त बननेवाले कितने अतत्त्वश्रद्धानी और मिथ्याभाषी हैं।"

[पु० ध० मी० पृ० ३२]

"विदित हो कि इस प्रकार के उपदेशों के प्रभाव से सैकड़ों लोगों ने देवपूजा, व्रत, दान, तप आदि धार्मिक प्रवृत्तियाँ छोड़ दी हैं ओर जो लोकलाज से करते भी हैं तो अश्रद्धा के साथ। ऐसे या वह दिखलाने के लिये की—ये लोग मन्दिर बनाते हैं, पूजा करते हैं आदि इस आडम्बर को दिखलाने का यही

प्रयोजन स्पष्ट है कि लोग भ्रम में आकर उनके सम्पर्क में आते रहें और उनके वाग्जाल में फंसते रहें।"

[पु० ध० मी० पृ० ३९]

"और आज के ये आध्यात्मिक सन्त कहलानेवाले बारीकी से जांच करने पर पहले ही गुण-स्थान वर्ती ही सिद्ध होते हैं।"

[पु० ध० मी० पृ० १२]

एक प्रत्यक्ष शत्रु रहता है, इससे सम्भलकर सावधान रहा जाता है और बच जाते हैं। किन्तु मित्र बनकर शत्रु रहता है वह महा भयंकर कोटिका होता है। विश्वास में लेकर मार देता है। और मिथ्या दृष्टियों से सावध रह सकते हैं। किन्तु जैन शास्त्र ग्रन्थ हाथ में रखकर आत्मवाद का उच्च उपदेश की ओट में अनात्मवादी भौतिक प्रचार में सहयोग देकर कितना विनाश कर डाले ? इस हेतु से उसको महा मिथ्या दृष्टिपना किस तरह प्राप्त होता है ? यह आगे स्पष्ट होगा।

७—जैनेतरत्त्व (अजैनपने) की संक्षेप में स्थूल समझ—

जैनेतरत्त्व की समझ के बाद उस मत में जैनेतरत्व किस प्रकार है ? उसका ठीक ख्याल आ जायेगा।

जैनेतरत्व तीन प्रकार का मालूम पड़ता है।

१—जैन शासन से अलग दूसरे आत्मवादी धर्म के अनुयायिपना। जिसमें—वैदिक: बौद्ध: इत्यादि आत्मवादी धर्मों का समावेश होता है।

२—न धर्म की मान्यता, न विरोध देखा जाय। जिसमें—वन्य, पार्वतीय या एस्कीमो इत्यादि कई मानवों का समावेश होगा।

३—तीसरे प्रकार में मुख्य तीन प्रकार स्थूल दृष्टि से हो सकते हैं।

(१) सर्वथा ही मात्र प्रत्यक्ष प्रमाणवादी। चार भूतवादी प्राचीन चार्वाक आदि नास्तिक होने पर जिसको परम्परा से विश्व में प्रचलित शुद्ध व्यवहार की मर्यादा में ही रहकर जीवन चलाना पड़ता था।

(२) एकान्त से आत्मवादी या एकान्त से निश्चयनय वादी वर्ग।

अ—श्री जिनोक्तादि होने पर भी शुद्ध व्यवहार के त्याग का उपदेश को कार्यान्वित करानेवाले। जिसमें शुष्क-वेदांती और प्राय: बनारसीदासजी आदि का प्राथमिक स्थितिमें प्रचलित किया गया उपदेश का समावेश होना सम्भावित लगता है।

आ—आत्मवाद के आधार पर धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष पुरुषार्थ को जीवन में परिणत करनेवाले मानवीय महा संस्कृति के साधक सभी शुद्ध व्यवहार के मूल उपदेष्टा जिनेश्वरदेव होने से शुद्ध व्यवहार कहा जाता है, और बाहर से कितना भी अच्छा होने पर भी जो जीवन व्यवहार अनात्मवाद के आधार पर रचा गया हो, वह अशुद्ध जीवन व्यवहार है।

अनात्मवादियों ने अनात्मवाद के गूढ़ प्रचार के लिए चलाया गया चमकीला अनात्मवादी भौतिक अशुद्ध व्यवहारों के प्रति अज्ञानवशता से व्यामूढ़ बनकर, आत्मवादी शुद्ध जीवन व्यवहारों को प्रजा के जीवन से हटाकर आनात्मवादी व्यवहारों को मार्ग मिलने में सहयोग देनेवाला वर्ग और उसमें दूर-दूर से भी हार्दिक रुचि रखकर आत्मवाद का यानी निश्चयनय प्रधान धर्म का एकान्त से उपदेश देनेवाला वर्ग का समावेश होता है। जिसमें गूढ़तया पुद्गलानन्दीपने के यानि आधुनिक साधनों का उपयोग में रुचि का पोषण आगे बढ़ता रहे।

सामान्य प्रजा को शुद्ध व्यवहार ही मिथ्यात्वपोषक जीवन से अज्ञानपने में भी कुछ न कुछ अंश में दूर रखता है, और आत्मवाद में स्थिर रखने का महा उपकार करता है।

इसमें सुधारवादी कई शुष्क वेदान्तियों का समावेश होता

है, तथा इसमें कवि राजचन्द्र जी आदि के मत का समावेश होता है। और उसका विकास रूप सोनगढ़ मत का समावेश होता है।

बम्बई, कलकत्ता इत्यादि आधुनिक प्रचार के नगरों में सबसे पहिला विदेशियों से यह प्रचार किया गया था, कि "भारत के धर्म तो अच्छे ही हैं, किन्तु समझकर धर्माचरण करना अच्छा है।" इस तरह समझने के बाद करने का विष को प्रचार में रख देने से धर्म को जीने का प्राण समान आचारों पर कुठाराघात शुरू हो गया। समझने-समझाने की बात से आधुनिक शिक्षण का विकास किया गया। आचारों को बिना उठाये धर्म क्षत्र का बल तोड़ने का दूसरा कोई उपाय न था। जैनधर्म की दृष्टि से—सबसे पहली प्रबल असर कविराजचन्द्रजी के ऊपर पड़ा। कितना भी चमकीला आत्मवाद का निरूपण करने पर भी धर्मका पाया चलित हो जाय ऐसा विदेशियों के प्रचारकों को ज्ञाताज्ञात स्थिति में धर्म क्षेत्रमें भी सहयोग मिल गया। जिसका पल्लवित स्वरूप सोनेगढ़ का मत है, इस हेतु से—दिगम्बर मत का स्वीकार करने की उद्घोषणा करने पर भी श्वेताम्बर कवि राजचन्द्रजी के साहित्य के वाचन में रुचि रहती है। यह उसका मूल ही कारण है। और समयसार ग्रन्थ को और दिगम्ब-

* पृष्ठ ५. ६. के श्लोक के और पृष्ठ ४ के परकी गाथा भावार्थ सह देखिये।

रीय अन्य शास्त्र ग्रन्थों को इस दृष्टि में परिणत किये जाते हैं। यह रहस्य है। आत्मवाद के वेष में अनात्मवाद के प्रचारक मत सिद्ध हो जाता है। आत्मवादी संस्कृति के शुद्ध व्यवहारों को प्रजा के जीवन से हटाये बिना वैज्ञानिक नया धर्म को प्रजा के जीवन में स्थान किस तरह मिल सकता है? इसके व्यापक प्रचार में सोनगढ़ का मत इत्यादि परिणाम में दूर-दूर से भी सहयोगी बन जाने की भूमिका युक्त होने से अनात्मवाद के पोषक कहे गये हैं। यह एक तत्त्व है।

आधुनिक विज्ञान के अधार के उपर का धर्म का प्रचार करनेका प्रयोजन यह दिखलाया जाता है कि "वर्तमान सभी धर्म में व्हेम-अज्ञान-कुरूढ़ि-रूढ़ि चूस्तता-अंध श्रद्धा आदि है।" क्योंकि—आत्मा : परलोक : मोक्ष : परमात्मत्व इत्यादि परोक्ष-अप्रत्यक्ष मूल तत्त्व के आधारपर उन धर्मों की रचना है। इससे बाहर से ऐसे ही दिखे, यह स्वाभाविक ही है। इस हेतु से उन सबको उठाकर बुद्धि ग्राह्य आधुनिक विज्ञान सिद्ध धर्म का प्रचार आवश्यक समझाया जाता है। ३६३ जैनेतरत्व में मत भेद रहता है, किन्तु जैनत्व में मत भेद नहीं पड़ता है। क्योंकि सम्यग्दर्शनी सभी भेदों को नय सापेक्ष संगत रूप में ही समझ सकता है।

आंशिक मत भेद मूल को हानि पहुंचाने वाले नहीं होते हैं। किन्तु सोनगढ़ मत मूल में आग लगानेवालों की कोटि में है।

विदेशीय अनात्मवादी प्रचारक साक्षात् शब्दों से आत्मवाद छोड़कर अनात्मवाद का स्वीकार करने का दबाव नहीं लाते है। किन्तु अनात्मवाद के विकास के साधक ऐसे-ऐसे साधन बनाकर प्रचलित करते हैं, की--जीवन व्यवहार में सुधार और परिवर्तन के नाम से कई प्रकार के जिवन व्यवहार बदल दिये जाते हैं। वे सभी ऐसे ही प्रचार में नहीं लाये जाते हैं, किन्तु अनात्मवाद के प्रचार के हेतु पूर्वक लाये जाते हैं। शनैः शनैः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसको स्थान मिल जाय, आत्मवादी व्यवहार उठ जाय, आत्मवाद की अदृश्यता और अनात्मवाद की व्यापकता बन जाय। मोटर का विरोध नहीं है, किन्तु वह आज अनात्मवाद का अंग के रूप में काम कर रही है, यह भयंकर वस्तु है।

सोनगढ़ मत ने जिस तरह धार्मिक व्यवहार का विरोध कर, छोड़ दिये गए, उसी तरह यदि बंगला-मोटर-प्रेस-रेल्वे-संस्थाका आधुनिक ढंग का गठन-वेष-भूषा-खान पान में शोख की वृद्धि इत्यादि भी छोड़ देते, आत्म ध्यान में शान्ति से बैठ रहते, तो कदाच उनकी आत्मवादिता में कुछ प्रामाणिकता मालुम पड़ती। किन्तु धार्मिक व्यवहार को छुड़ा देने का प्रबल उपदेश देना, उनको करनेवालों की पेट भर निन्दा करना, और निन्दा का प्रचार करना, साथ में आधुनिक साधनों की और आधुनिकता से दिलचस्पी रखनी, तथा उनका उपयोग दिल-

चस्पी से करना। यह क्या है ? स्पष्ट पुद्गलानंदीपन का ही प्रचार नहीं है ? है ही।

(३) अ—आत्मवाद, उसका मोक्षादिक आदर्श, तदनुकूल सभी शास्त्र-साहित्य, प्रजा के जीवन में ओत-प्रोत तदनुसार शुद्ध जीवन व्यवहार, इत्यादि भारत की प्रजा के प्राण तुल्य तत्त्वों का पूरा विरोध रखने पर भी–गूढ़तया अनात्मवाद के पोषक साधन सामग्री, शिक्षण, और तदनुसारी जीवन व्यवहारों का युक्ति से प्रचार कर, और शिक्षण आदि में अनात्मवादी वर्तमान विज्ञान का प्रचार कर, आत्मवाद की सारी इमारत को जमीन दोस्त करनेवाली विचारधारा।

जिसमें धर्म को अनावश्यक माननेवाले : और आधुनिक अनात्मवादी प्रगति के कट्टर पक्षकार : कई वर्ग का और विदेशीय युरोप, अमेरिका के राष्ट्रवादीयों का समावेश होता है। रूस का धर्म विरोधी पक्ष, जिसके अनुयायि भारत में कई लोग है। आधुनिक राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोंदय वाद, और आधुनिक अनात्मवादी विश्वशांतिवाद का भी समावेश होता है। पंचशील आदि शब्दों का प्रयोग, प्रचार की लोक-प्रियता बढ़ाने के लिए ही है।

आ—आत्मवाद के पक्षकार के वेश में छिपे हुए भी आधुनिक अनात्मवादी प्रगति के कट्टर पक्ष करनेवाली विचारधारा।

जिसमें आधुनिक सुधारवादी : प्रगतिवादी : और आधुनिकता के अधार पर नख से चोटी तक परिवर्तनवादी : वर्गोंका समावेश होता है। जिसमें कई देश नेता का और प्रागतिक लोगों का समावेश होता है।

१—"समझकर आचार का पालन करना चाहिए।"

२—उसका विकसित स्वरूप—

सर्व धर्म समन्वय–सर्व धर्म समानता इत्यादि है।

३—उसका विकसित स्वरूप—

"आधुनिक विज्ञान के आधारपर नया धर्म की रचनाकर उसका विश्व साम्राज्य स्थापित करना" इस प्रकार का प्रचार है। जिससे सब आत्मवादी धर्मों को लुप्त होना पड़े, तब उसका साम्राज्य स्थापित हो सके।

अनात्मवाद में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग देने में वहां तकका परिणामों की धारा लगी हुई है।

शुभ-शुद्ध की जाल में ले कर, यह सोनगढ़ी मत अनात्मवाद के सहयोगी होकर आत्मवाद के मूल उखाड़ने में साथीदार बन गया है। उस हेतु से उसका स्थान ३. (२) आ में आ जाता है।

इस विचारणा से भी इस सोनगढ़ के मत का परंपरया अनात्मवादी जैनेतरत्व सिद्ध हो जाता है।

इत्यादि कई हेतु से–कोरा आत्मवाद का प्रचार, शुद्ध क्रिया कराने की आवश्यकता का प्रचार, प्राचीन पुरुषों की तरह उच्च कोटिका धर्म का पालन करने की आवश्यकता का प्रचार, और ऐसे आज के प्रचारक वर्ग, अनात्मवादियों की उत्तेजना के पात्र है। जिससे उनको आधुनिक प्रतिष्ठा, धन और साधन सामग्री का सहयोग मिलता रहता है, यानि युक्ति से दिया भी जाता है। यह भी एक अनोखा रहस्य है।

यद्यपि ऐसे मत को इस समय में अधिक प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन मिलता हो, इससे सच्चे धार्मिकों को व्यामूढ़ न होना चाहिये।

६–पुण्य बन्ध : आस्रव : संवर : निर्जरा :

"धार्मिक क्रिया से पुण्यवन्ध ही होता है, निर्जरा नहीं होती है" यह एकान्त कथन नितान्त सर्वज्ञ मत से बाहर है। किन्तु यह कहना चाहिये कि–'यथाधिकार–धार्मिक क्रिया से अल्पाधिक अंश में पुण्य बन्ध, संवर और निर्जरा भी होतें हैं। यह सर्वज्ञ प्रभु का मत है।' जो पुण्य को एकान्त से धर्म मानते हैं वे भी सर्वज्ञ के मत से बाहर है। इस रीति से–जो शैलेशी अवस्था को भी एकान्त से धर्म मानते हैं, श्रेणिप्रपन्न को भी एकान्त से धर्म मानते हैं, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति को या मर्गानुसारिपने को भी जो एकान्त से धर्म मानते हैं, वे सभी

सर्वज्ञ के मत से बाहर है। जैनशासन में धर्म की अपेक्षा-विशेष से कई तरह की व्याख्या की गई है। जिस अपेक्षा से जिस भूमिका को **धर्म** कहा गया है, उससे नीची कक्षा की भूमि को **अधर्म**कहा गया है। जिस तरह—अप्रमत्त भाव को धर्म, तो षष्ठ गुण स्थानक तक के प्रमत्त भाव को अधर्म। चतुर्थ गुण स्थान की अवस्था को धर्म, तो ३ गुण स्थानक तक में अधर्म। अन्तिम पुद्‌गल परावर्तनस्थ अपुनर्बन्धकभाव आदि को धर्म, तो चरमावर्तिके शिवाय की अवस्था को अधर्म। शैलेशी अवस्था को एवंभूतनय से धर्म, तो अशैलेशी अवस्था को अधर्म कहा गया है। जैनशासन का अपेक्षावाद और तदनुसार किये गये विभिन्न-विभिन्न प्रतिपादनों के आशय को विना समझे मात्र समयसार के वाक्यों का भी जैन शैली विरुद्ध प्रचार करना ! कितना भयंकर कार्य है ?

शुभ, अशुभ, शुद्ध, परम शुद्ध—कोई भी जैनी क्रिया के विधि में ऐसी रचना है कि—जिससे संवर-निर्जरा भी हो जाय। यथा-प्रतिक्रमण का अर्थ भूल का सुधार, प्रायश्चित्त है, किन्तु उसके विधि में षडावश्यक की रचना है। सामायिक-पंचाचार या रत्न त्रयी की अराधना रूप है। चतुर्विंशतिस्तव-गुरुवन्दन देव-गुरु भक्ति रूप है। प्रत्याख्यान-सायं चउविहार का त्याग प्रातः एकाशन नमुक्कारसी आदि करना ही पड़ता है, जिसमें

बाह्यतप का समावेश होता है। कायोत्सर्गादिक-अभ्यन्तर तप है। इस तरह संवर और बाह्याभ्यन्तर तपात्मक निर्जरा भी होती है। और नीचे के गुण स्थानकवालों को पुण्य बन्ध भी साथ में होता है, ऊपर-ऊपर के गुणस्थानक में निर्जरा अधिक, अधिक संवर, पुण्यबंध भी तीव्र-तीव्र। श्रेणी में जाने बाद, पुण्य बंध कम होता जाय, निर्जरा बढ़ती जाय। यह जिनोक्त व्यवस्था है। उसका निषेध एकान्त से किया जाता है। यह स्पष्ट ही जिन वचन की आशातना होने से अजैनपने के चिह्न है।

प्रथम गुण स्थानक वर्ति चरमावर्ति जीव को तद्‌योग्य आचरण से तद्‌योग्य पापबन्ध-पुण्यबन्ध : संवर : निर्जरा होती है। उसी तरह दशम गुण स्थानक वर्ति जीव को भी पापबंध, पुण्यबन्ध संवर निर्जरा होती है। वहाँ १४ प्रकृति का पापबंध, ३ प्रकृति का पुण्यबंध, १०३ प्रकृति का संवर, और शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये तक में महा निर्जरा होती है। तथापि ३ गुण स्थानक तक पापबंध की—अशुभ की प्रधानता है, ४थे से ६ ठे तक में शुभ की-पुण्यबंध की प्रधानता है। ७ से १० गुण स्था० तक संवरऔर निर्जरा की प्रधानता है। ये प्रधानता-सापेक्ष निर्देश किये जाते हैं। यदि प्रथम गुण स्थान में अल्प भी सकाम निर्जरा न होती हो, तो कोई भी चतुर्थ गुण स्थनक पर जा ही नहीं सकता, और मोक्ष मार्ग सदा के लिये बंध

ही रह जाता। किन्तु ऐसी निर्जरा शास्त्रकारों ने गिनती में नहीं ली है। शास्त्र वाक्यों गौण-मुख्य उपचार और विवक्षा वशसे चलते हैं। इस हेतु को विना समझे एकान्त पकड़कर एक ही बात का जोर-शोर से निषेध करने का कार्य गम्भीर भूल तो क्या, किन्तु जैनशासन, अनन्त तीर्थंकर प्रभु आदि की महा अशातना और शासन विलोप का पाप से आक्रान्त है। शुभ-शुद्ध-परम शुद्ध की शास्त्रोक्त परिभाषा–संक्षेप में अनुष्ठान की योग्यता की भूमिका समझानेके लिए खूब उपयोगी है। उसका भयंकर दुरुपयोग किया जाता है। एक नय अपना प्रतिपादन करे, और दूसरा कोई भी नय के अभिप्राय का खण्डन भी करे, किन्तु इधर-उधर खण्डन-मण्डन की मात्रा बढ़ जाय, तो उत्सूत्र प्ररूपणा हो जाय। इस स्थिति में एक का ही आग्रह रखा जाय, तो क्या स्थिति हो जाय? किन्तु गुरुगम विना शास्त्र को पढ़कर अपने-अपने चौके में रमणता करने-वालों को यह सत्य कैसे समझाया जाय?

ग्रामीण किसान को **क ख ग घ** का भेद मालूम नहीं है, उसकी दृष्टि में काले-काले मकोड़े जैसे वे दिखते हैं, उसको कोई प्रत्येक अक्षर का भेद समझावे, तो वह किस तरह समझ सके? और ऐसी झंझट करनेवाले को गाली प्रदान भी कर वह किसान चला जाय। यहाँ सोनगढ़ के मत में भी

ग्रामीण किसान की मण्डली जैसा घाट है। क्या किया जाय ? क्या कहा जाय ? किससे कहा जाय ?

अभ्यास क्रिया की क्या आवश्यकता ?

ग्रहण और आसेवन शिक्षा स्वरूप क्रिया का अभ्यास (भद्र ध्यान) तालीम और प्रमाद परिहार के लिये करनी चाहिये। न लड़ने पर लश्कर कबायद करता ही रहता है। ऐसे जीव आत्म विकासक जिनोक्त अनुष्ठान चालू रखे, और उसको समझा-कर सतत उपदेशसे आत्माभिमुख बनाने का प्रयत्न किया जाय, तो वह प्रयत्न जिनाज्ञा से सुसंगत और प्रामाणिक है। किन्तु अनुष्ठानों का केवल निषेध ही किया जाय, वह कहांतक योग्य है ? समयसार के नाम से महा अनर्थ फैलाया जाता है, और भविष्यत् के लिए अड्डा कायम किया जाता है। फिर भी वह जैनधर्म की उन्नति के नाम से किया जाता है, वह दुःखद और आश्चर्य जनक है।

अभव्यादि की क्रिया का दृष्टान्त का रहस्य

अनभिज्ञ लोगों को समझाया जाता है कि "अभव्य आत्मा आदि खूब कड़ी क्रिया करने पर भी मोक्ष में नहीं जा सकता है और नवम ग्रैवेयक तक जाकर फिर भी अनन्त-काल तक संसार में भटकता रहता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं होने से उसको कभी भी आत्मा का लक्ष्य नहीं हुआ है।"

क्रिया का निषेध की अपेक्षा से उच्चारित यह कथन भी जैनशास्त्र की पूरी अनभिज्ञता का सूचक है। इसमें क्रिया का कोई दोष नहीं है, यदि यही क्रिया कोई सम्यग् दर्शनी भव्य कर लेता तो उसी जिनोक्त क्रिया से ही वह मोक्ष में चला जाता है। तो उस अभव्यादि में मोक्षाशय न होने का दोष है, क्रिया का दौष नहीं है। आशय दोष का आशय-रहित-क्रिया के ऊपर उपचार किया गया है। आशय का दोष बतलाने लिये तत्सह-चरित क्रिया का भी उपचार से दोष इस तरह बतलाया गया है। आशय शुद्धि युक्त क्रिया का महत्त्व बतलाने के लिए उपचार है। आशय शुद्धि युक्त महात्मा को भी अपनी कक्षा के योग्य वही जिनोक्त क्रिया करनी पड़ती है। इसके सिवाय मोक्ष में ले जानेवाली कौन-सी क्रिया है ? धर्म ध्यानादि भी क्रिया ही है। यदि तथा-भन्यता वाले कोई जीव को छोड़कर तीर्थंकर आदि भी अपने कल्प के योग्य सामायिक, पंच महाव्रत का धारण, तपश्चर्यादि भी करते ही हैं। जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त न हुआ हो, ऐसे मार्गानुसारी को भी अभ्यास क्रिया करने की आज्ञा है, क्योंकि—वह निश्चयनय के धर्म की समझ तक नहीं पहुंचा होता है।

नय सापेक्ष जिनवाणी का अज्ञान

नय निक्षेपादि का ज्ञान न होने से जैन शास्त्रकारों की

नय नयान्तर सापेक्ष उपचरित-अनुपचरित भाषा व्यवस्था का ज्ञान न होने से और एकान्त पकड़ कर दुराग्रह के वश हो जाने से, और आत्मवाद विरुद्ध आधुनिक अनात्मवाद प्रचार के पक्षकार बनजाने से, इस तरह अज्ञानता वश वेफाम (स्वछन्द तया) निषेध किया जाता है। क्योंकि-कोई पूछने वाला है नहीं। क्योंकि—कोई गुरु की परतंत्रता स्वीकारी नहीं है, और कोई इस विषय की सूक्ष्म-चर्चा-विचारणा करने के लिए आ जाय, तो इसाई धर्म गुरुओं की तरह बातचीत बन्द करके चुप्पी धारण करने की आधुनिक कूट नीति का आश्रय लिया जाता है, और पीछे से अपनी मंडली में यथेच्छ खंडन मंडन किया जाता है, और अपने मत के प्रचारक पत्रों में छापा जाता है।

भक्त वर्ग भी आपके राग में राग आलापते रहते हैं, क्योंकि वे भी परम्परागत गुरु गम से शास्त्र पढ़े नहीं है और आधुनिक शिक्षा और व्यापारादि के धन की खुमारी चढ़ी रहती हैं, और कोरी आत्मवाद की बातों से उसमें और भी वृद्धि हो जाती है। मन्दिर उपाश्रय में न जाने का मन आधुनिक शिक्षा से बन जाता है। फिर भी धर्म शास्त्र के नाम से उसको उत्तेजना मिल जाय, तो फिर पूछना ही क्या? समयसार के सिवाय और भी ग्रन्थ अपनी कल्पना के अनुसार

समयसार के ढांचे में ढालकर वाँचे जांय और समझाये जाँय, तो उसके अतिरिक्त दूसरा परिणाम क्या भी आवे ?"

"शिष्य और गुरु एक ही कोटि या श्रेणी में हैं ।"

(पु० धर्म० मी० पृ० १०)

जैन शासन के बाह्य प्रभाव का मूल

जगत में प्रसिद्ध है कि "जैन धर्म का तत्त्व ऊँचा है ।" किन्तु उस तत्त्व को कौन देखने को जाता है ? और कौन समझ सकता है ? जैन धर्म का आत्मवाद सम्पूर्ण सुव्यवस्थित और उच्च प्रकार का होने से 'उसके अनुयायियों की क्रिया-आचरण भी ओरों से खूब ही उच्चतर है ।" यह बात सभी को कबूल करनी पड़ती है । जैन मुनियों का तप, संयम की तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती है । इतर जनता उसको देखकर ही जैन धर्म का उच्चत्व प्रमाणित करते हैं, और चमत्कृत होती हैं, जिसके बल से अल्प संख्या युक्त जैन धर्मावलम्बियों का स्थान समस्त मानव गण में महत्त्व का माना जाता है । और अ-प्रतिहत रूप से मानव सागर में एक छोटा वेट (द्वीप) समान चमकता है । यह ही जैन धर्म की बाह्य प्रतिष्ठा और यश का सर्व सामान्य प्रतीक है । तो अनुष्ठान द्वारा जैन शासन की प्रतिष्ठित प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाय इस तरह अनुष्ठानों का निषेध कर जैन शासन की उन्नति तो करने

का दूर रहा किन्तु उसकी महा मालिन्यता की जाती है । "जैन शासन का मालिन्य करने जैसा ओर कोई पाप जगत में नहीं है ।" यह जैन शास्त्रकारों की ज्वलन्त घोषणा है । ऐसा मालिन्य उत्पन्न करने की और तद्‌योग उत्सूत्र प्ररूपणा करने की इच्छा गाढ़ जैनेतरत्त्व सिवाय अशक्य ही हैं ।

क्रिया के सच्चे स्वरूप की मिथ्या बातें

सोनगढ़ में—"क्रिया का सच्चा स्वरूप क्या है ? वह यथार्थ तया समझाया जाता है ।" यह बचाव केवल शाब्दिक ही है । और क्रिया का तीन भेद बतलाये जाते हैं, वह भी शब्द छल से युक्ति मात्र की जाती है । क्रिया चीज ऐसी ही है, कि-करते करते ही भवान्तर में शुद्ध होने वाली चीज है । कोई भी क्रिया शुरु से बराबर नहीं हो सकती है । किसी की भवान्तर की क्रिया इस भवों में कुछ न कुछ अंश में शुद्ध होने वाली हो, तो उस जीवों को क्रिया का निषेध कर अन्तराय उत्पन्न किया जाता है ।

सोनगढ़ के मतवाले व्रत, प्रत्याख्यानादि धार्मिक क्रिया का निषेध करते ही हैं । "क्रिया का निषेध नहीं किया जाता हैं" यह सरासर झूठ ही है । क्योंकि "उसको अच्छी कराने का बचाव" ही निषेध करने का आशय होने का सबूत है । क्योंकि—"अच्छी न हो, वहां तक निषेध" यह अर्थ है ।

और "जीव अनादि से क्रिया करता ही है" ऐसी क्रिया की बातें लाई जाती हैं। किन्तु वह क्रिया दूसरी चीज है, और संवर निर्जरा और पुण्य बन्ध की पोषक क्रिया दूसरी चीज है। किन्तु शब्द-छल से अज्ञानियों को भ्रम में डालने की कु युक्ति दी जाती है। इस तरह जैन धर्म का मालिन्य उत्पन्न करनेवाली असत् प्ररूपणा और शब्द-छल जैनेतरत्व की बड़ी भारी निशानी है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ **आत्मानुशासन ग्रन्थ में—**

तस्मात्पापाऽपचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

"पुण्यं कुरुष्व" ॥३१॥

अर्थ—"इस हेतु से पाप का नाश करना और पुण्य का संग्रह सुविधेयः–अच्छी तरह से करना चाहिये।"

"तुं पुण्य कर" ३१

श्री गुणभद्राचार्यजी

यह प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य भी सोनगढ़ के मत से "सर्वज्ञ के मत के बाहर ही होंगे ?" समयसार की १४५ वीं गाथा में कहा है की–

"पुण्य से धर्म हो सके" इस तरह की मान्यतावाले सर्वज्ञ के मत से बाहर है"

दो दिगम्बराचार्यों में कोन सर्वज्ञ के मत से बाहर? और कौन भीतर? उसका जवाब अपेक्षा बिना एकान्त से नहीं दिया जाना चाहिये।

दोनों ही अंदर है—अपेक्षा भेद से दोनों का कथन सर्वज्ञ मत से संगत है। १४५ वीं गाथा को एकान्त से पकड़नेवाले जैनत्व से च्यूत रहते है, और समयसार के कर्ता आचार्य को भी बदनाम कर आशातना करने से मन में संकोच नहीं अनुभव करते हैं।

६ उपादान : निमित्त : कारण की चर्चा

यह दोनों कारण की चर्चा खड़ीकर मुग्ध लोगों को गुंच में पाड देने का एक तरीका उस मत को हाथ लग गया है। शास्त्रकारों का नयसापेक्ष गौण-मुख्य निरूपण रहता है। और एकान्त वादीयों का प्रत्येक नय जोर से खंडन करते हैं। यह रहस्य न समझकर एकान्त खिंचा जाता है। उपादान की प्रधानता कही जावे, उसमें कोई विरोध नहीं। किन्तु सापेक्षतया कहनी चाहिए, एकान्त से नहीं। कहा जाता है कि—"निमित्त हाजिर रहता है।" इस वाक्य का क्या अर्थ? यह कुछ सार्थक वाक्य प्रयोग है? या निरर्थक? यदि सार्थक है, तो उसका अर्थ समझाना पड़ेगा ही। निमित्तः यह कारण स्वरूप है? या कोई दूसरे पदार्थ स्वरूप हैं? कारण को छोड़कर

यदि कोई दूसरा पदार्थ निमित्त है, तो उसका क्या स्वरूप है ? यदि कारण स्वरूप है, तो जब उसमें कार्य-जनकता आती है, तब ही कारणता उत्पन्न होती है। अन्यथा, निमित्त कारण ही वह नहीं बनता है। यदि कार्य-जनकता बिना ही निमित्त माना जाय, तो उसका अस्तित्व सदैव रहता है। उसमें उसकी हाजरी से कौन सी विशेपता ? निमित्त-नैमित्तिक भाव संबन्ध का क्या अर्थ ? उन लोगों की पास उन प्रश्नों का कोई ठीक उत्तर नहीं है। ऐसी अर्थ-शून्य बातें बिना समझें चलाये रखते हैं, तर्क शास्त्र और परम्परागत गुरुगम से पढ़े हुए शास्त्रज्ञ कोई है ही नहीं। किसको पूछा जाय ? सभी ही ऐसे।

वर्षों से चलाई गई बातों का बारम्बार शब्दांतर से एक ही बातों का पुनरावर्तन किया जाता है। इधर उधर से नये नये ग्रन्थ बांचकर और जैन तर्क शास्त्र के थोड़े शब्द मिलाकर पुनरावर्तन सिवाय कुछ देखने में आता नहीं। सभी 'आत्म-धर्म' मासिक देखिये। पीछे से भक्त लोग व्यक्ति को चढ़ा बढ़ाकर आधुनिक रीति का अनुसरणकर महिमा बढ़ाते रहते हैं। निमित्त कारण को मुख्य एकान्त से जैन दर्शन में कौन सा पक्ष मानता है ? सभी सापेक्ष से गौण-मुख्य मानते हैं। एकान्त पक्ष सोनगढ़ के मत में ही है। द्रव्यार्थिक नय से बिना उपचार कार्य-कारण भाव ही नहीं बनता है। कार्य-

कारण भाव बिना पर्यायार्थिकनय में चल सकता नही । कार्य-कारण भाव में उपादान और निमित्त कारण अनिवार्य रूप से आता ही है। उसका अपलाप किस तरह किया जाय ? निमित्त कारणको अपेक्षा विशेष में गौण रखकर उपादान कारण की मुख्यता—करने में कोई दोष नहीं है। उस अपेक्षा से पूर्वाचार्यों ने उपादान को ग्रन्थ विशेष में स्पष्टतया मुख्य स्थान दिया हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं । दोष बिना समझे सुनने-सुनाने वालों का है, ग्रन्थकार का नहीं । "हाजर रहता है" कहकर तो सोनगढ़ के मतवालें भी कुछ अंश में निमित्त-का स्वीकार तो करते ही हैं । वह निमित्तकारण की गौणताका स्वीकार ही है, फिर भी उपसंहार में एकान्त से उसको उड़ाते हैं । यह एकान्त पक्ष भी जैनतरत्व की सबुत है ।

१० दिगम्बर सं० के सहारा लेने का गूढ़ कारण ?

श्वेताम्बर स्था० की दीक्षा छोड़ने बाद—कुछ निर्णय न था कि क्या करना ? किन्तु समयसार का पक्ष हृदय में बैठा था । और दृढ़ पीठबल के बिना गूजरात-सौराष्ट्र में श्वेताम्बर शासन की सामने टिकना मुश्किल था । प्रचलित रीति में दिगम्बर संप्रदाय को अपनाना भी मुश्किल था । क्योंकि-अमुक मत भेद के सिवाय मूल भूमिका श्वे० दि० की एक समान है । सोनगढ़ मत की भूमिका आधुनिकता की हवा से

बंधी गई है । इस स्थिति में "मुमुक्ष मंडल" अलग बनाकर अपना पृथक्पना भी सुरक्षित रख लिया गया । और गुज-रात सौराष्ट्र में सोनगढ़ मत के अनुसार स्थान जमा देने पर भी, श्वे० को दि० सं० में लेने की दि० सं० को लालच दिखलाकर उस संप्रदाय के अग्रसरों की सहानुभूति प्राप्त कर ली गई । धार्मिक सूक्ष्मता को धनिकों में से कोईक ही समझ सकते हैं । वे वाह्य दृष्टि से आकर्षित हो जाते हैं । यह पोल और प्रपंच दिगम्बर संप्रदाय के सूक्ष्म दृष्टा के ख्याल में अब आने लगी है । बम्बई के दिगम्बर समस्त का प्रस्ताव से मालूम पड़ता है । और धार्मिक विषय में भद्र स्वभावी राजस्थान आदि के लोगों को सौराष्ट्र के नामी एडवाँकेट की आधुनिक रचना का क्या पता चल सकता है ?

किन्तु जिसको संप्रदाय में प्रवेश करना हो, तो पूर्व के धर्म से विधिपूर्वक छुटना चाहिए । और नया में प्रवेश के लिए विज्ञप्ति कर प्रवेशक में पसार हो जाने बाद प्रवेश कराया जाता है, और किया जाता है । अन्यथा, आज तो-"जैन धर्म बड़ा अच्छा है" ऐसी रटंत लगाकर घुसने वाले कई लोग है । युरोप अमेरिका में कई स्कॉलर घुसने के लिए तैयार बैठे हैं । रोक टोक बिना प्रवेश का द्वार खुल जाय इतनी ही देरी है । कितनेक तो ऐसे धर्मात्मा होंगे की देखकर भारत के लोग दंग हो जायेंगे ।

अपने उच्च से उच्च साधु से भी उच्चतर वे दिखायेंगे। क्योंकि-गुप्ततया उनके राष्ट्र तालीम दिलाता रहता है। ऐसे लोग भीतर प्रवेशकर जैन शासन की क्या दुर्दशा करेंगे ? वह भावी पीढ़ी दिखेंगे। इस तरह कई अपनी-अपनी सानुकूलता अनुसार प्रवेश चाहते हैं, और इस तरह प्रवेश दिया जायगा, तो जैन शासन की क्या दशा होगी ? यानि "जैन शासन का हिताहित कुछ भी हो" उसकी दरकार आज के उनके अनुयायिओं को नहीं है, ऐसा अर्थ हो जायगा।

अपनी नीति रीति बनाकर 'हम दिगम्बर जैन है' एसा कहकर घुस जाने की युक्ति की, और दिगम्बर संप्रदाय के भद्र अगुआओं का भद्रपने का दुरुपयोग किया गया है।

दिगम्बर संप्रदाय में प्रवेश के सामने हमारे यहां कुछ कहना नहीं है। क्योंकि—जिसको जहाँ पसन्द पड़े, आत्म कल्याण करने का मन ठहरे, वहाँ जरूर जा सकता है। किन्तु सत्यता, प्रामाणिकता पूर्वक और विधिपूर्वक जाने में सभ्यता और प्रामाणिकता है, शोभा रहती है। यह कहने का है।

दिगम्बर संप्रदाय में भी एक रस होने की इच्छा नहीं है, किन्तु अपना मत का प्रचार कर कई दिगम्बर जैनों को भी अनुयायि बना कर अपना पक्ष मजबूत कर जुदा चौका जमा रखने का प्रपंच का त्याग नहीं किया गया है। यह सभी रीति

आत्मार्थी जैन की नहीं होती है। जैन धर्म से अस्पृष्ट जैनेतर की होती है। अलग चौका न जमा रखते, तो बहुत कुछ कहने का नहीं रहता है। इससे दिगम्बर संप्रदाय को भी ठगने की चेष्टा की जाने का स्पष्ट मालूम पड़ेगा।

११ नाम और वेष

एक तर्फ से कहा जाता हैं कि–'हम दिगम्बरी है।' और दूसरी ओर से—नाम और वेश के अंश स्थानक वासी सं० के कायम रखे हैं। क्या यह आश्चर्य कारक घटना नहीं ? ऐसा क्यों करना ? फिर भी मुनिपने की अवस्था को भक्तों में और भद्र जनता में टिकाये रखने की भावना हृदय से लुप्त हुई नहीं हैं।

किन्तु हृदय में दृढ़-मूल जमी हुई है। श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर-ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से प्रसिद्ध किया गया हुआ यात्रा के प्रोग्राम में ऊपर ही लिखा है कि "पूज्य श्री कान जी स्वामी महाराज की संघ-सहीत श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा का प्रोग्राम" 'पूज्य श्री कान जी स्वामी महाराज की' 'और संघ-सहित' शब्द का क्या तात्पर्य है ? स्पष्ट ही 'मुनिपना कायम ही है।' ऐसा दिखलाने का है ही। कहा जाता है कि "प्रतिज्ञा कर एक वख्त स्था० सं० का मुनि वेश लिया था, तो प्रतिज्ञा का भंग क्यों किया जाय ?" ऐसा भी

कई लोग बोलते हैं। यह भीतर का प्रचार क्यों न हो ? कुछ भी हो। जब स्था० सं० छोड़ा श्वे० जैनपना छोड़ा, तो वस्त्र में और नाम में क्या मोह रह गया ? वाहन की सवारीमें प्रतिज्ञा भंग नहीं मालूम पड़ता है ? और नाम तथा वेश छोड़ने में प्रतिज्ञा भंग मालूम पड़ता है ? दिगम्बर मुनि न होने पर भी मुनि की तरह मयूर पीछी रखी जाती है। विधि पूर्वक दिगम्बर ऐलकः क्षुलुकः ब्रह्मचारीः न होने पर गले तक वस्त्रसे ढका शरीर की साथ मयूर पीछी रखी जाती है। जो फोटू में दिखी जाती है। ऐसा कोई जैन परम्परा में न होनेवाले बाह्य दिखाव होने पर भी दि० सं० के लोग किस तरह यह चलाते होंगे ? क्या दिगम्बर सं० के भट्टार्क जी हैं ? भट्टार्क प्रायः कमण्डलू रखते हैं, और कषायी वस्त्र पहनते हैं। यह तो न कमण्डलू रखते हैं न कषायी वस्त्र। दिग० सं० की दृष्टि से भी वह कैसे "पूज्य महाराज" है, कोई समझा देवे तो बड़ी कृपा। "बिना टिकट रेल के डिब्बे में घुसना। फिर भी अपना आचरण से किराया देकर बैठे हुए मुसाफिरों को तंगकर अपनी बैठक शांति से जमा लेते हैं" यह दृष्टान्त दि० सं० में प्रवेश करनेवाला इस मत को ठीक लागू हो जाता है। दि० सं० क्या करें ? आधुनिकता का ठस्सा ही ऐसा है।

अन्यथा सभ्यता तो यह है कि-वेशः नामः इत्यादि प्रथम के गुरु को सोंप देकर अपने को पसन्द सम्प्रदाय में जा सकते

हैं, कौन रोक सकता है ? पूर्व काल में—श्री मेघ कुमार आषाढ भूति—इत्यादि कई महापुरुषों का दृष्टान्त है, कि-गुरु को वे सौंपने जाते हैं। गुरु समझाते हैं। न समझने बाद जो कुछ होता है। श्री सिद्धर्षि गणि की बात है कि-"वे २१ वार वेष सौंपने को आये थे, आखिर ललित विस्तरा के पाठ से टिक गये। इत्यादि कई प्रमाण है। किन्तु, इस्लाम के राज्य काल से धर्म क्षेत्र में चली अराजकता का यह प्रभाव है।

सोनगढ़ के मत में—मनमानी करनी और क्रिया का सुधार के नाम से एकान्त निश्चयनय प्रयुक्त आत्मवाद और समयसार का नाम लेकर उनका बचाव करना, फिर भी चूस्त और उच्च कोटि का दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायि होने का सब से अधिक दावा करना, यह दि० सं० में यदि चल सकता हो तो आश्चर्य होता है कि—वह सं० की शिस्त कहाँ तक गिर चूकी होगी ?

भारत की सामान्य प्रजा वेश को खास पूजती है। यदि गृहस्थ का वेश धारण कर लिया जाय, तो जनता के दिल में पूज्यता उठती नहीं। इससे मुक्ति फौज के पादरी वर्ग भगवे कपड़े रखते हैं। वेश रखने का यह भी एक कारण है।

इस तरह जैन शासन के कोई भी पक्ष का चोकस नाम-वेष-प्ररूपणा नियत न सिद्ध होने से, जैनेतरपना स्वयं सिद्ध रह जाता है।

जयकुमार जैन नामक एक दि० भाई ने "श्वे० जैन सं० के श्री कानजी स्वामी के प्रलोभन में न फँसे" इस प्रकार के शिर्षक की एक पत्रिका प्रसिद्ध की है। अन्त में लिखता है कि "बम्बईमें उनके भक्तोंने नकली महावीर नगर–नकली समोशरण तथा नकली मान स्तम्भ बनाकर अपने नकलीपन का जो परिचय दिया है, उनसे अनेक लोग अब श्रद्धालु सम्यक सावधान हो गये है अतः अब दिगम्बर जैन समाज संगठित होकर कानजी स्वामी के इन मनगढन्त कुवृत्तियोंको रोके तथा उनके मीठे २ शब्दों व श्वेताम्बर को दिगम्बर बना रहे हैं इस प्रलोभन में न फंसे। अपनी संस्कृति आचार-विचार, आर्ष पद्धति का विनाश न होने दें। कान जी स्वामी के असली रूप को पहिचान कर उनको तथा उनने अनुयायिओं को दिगम्बर जैन समाज से पृथक कर देवें।"

इस लेखक दिगम्बर भाई से हमारा कथन जूदा पड़ता है। हमारा कथन यह है कि–"श्वेताम्बरपना छोड़ दिया है, और दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायिपने को विधि पूर्वक स्वीकार किया गया नहीं है, और विधि पूर्वक प्रवेश भी नहीं किया गया है, तो फिर उसको पृथक् करने की बात ही कहाँ से उठ सकती है ? पृथक् ही है। और दि० जै० मुमुक्षु मण्डल अलग बना लेने से ही पृथक् ही है। इस तरहका मण्डल बनाने

की परवानगी दिगम्बर सम्प्रदाय के कौन-कौन जोखमदार अगुआओं ने पद्धतिसर दी है? इससे भी न्यायपूर्वक प्रमाणपूर्वक जैनेतरपना सिद्ध है।

१२—एकान्त आत्मवादीयों को अनात्मवादीयों का प्रोत्साहन रहता है।

क्यों? परिमाण में वे भी अनात्मवादी होते हैं। वास्तव में एक कक्षा के होते हैं। एक वर्ग अनात्मवादी आधुनिक विज्ञान का पक्षकर अनात्मवाद का पक्षकार होता है। दूसरा आत्मवाद के नाम लेकर आत्मवादी मार्ग को उखाड़ देने का कार्यक्रम रखकर अनात्मवाद में सहयोग देता है। दोनों का ध्येय एक बन जाता है। भूमि का भेद मात्र है। इससे कोई आधुनिक नेताः विद्वानः का अधिक पक्षसे सोनगढ़ के मत का महत्त्व मान लेने में बड़ी भूल होगी। इन लोगों से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का या सहयोगः सहानुभूतिः प्राप्त करने का विचार भी सोनगढ़ मत की जैनेतरता सूचित करता है।

१३ धर्मतत्त्व की सर्वांग वफादारी नहीं है।

"मन्दिरः मूर्तिः की पूजा इत्यादि लोगों को आकर्षित कर मत में फंसाने की चेष्टा है" इस भाव का शा० विद्यालंकार जी ने कहा है। इससे देव-गुरु-धर्म यह तिन तत्त्वों में देव तत्त्व की यह दशा है। गुरु तत्त्व के विषय में आगे लिखा गया

है। रहा धर्म तत्त्व। उसके निश्चयनय व्यवहार नय सिद्ध व्यवस्था, पंचाचार, उनके विविध अनुष्ठान, उनके अनेक विधि, उनके साधन, इत्यादि प्रति वफादारी इस मत की नहीं है। यानि उनका निषेध किया जाता है। उपेक्षा की जाती है। और विरोध भी किया जाता है। निश्चय नयात्मक धर्म का ही पक्ष किया जाता है। वह भी एकान्त से। इस रीति से शाश्वत धर्म का विरोध निश्चित होता है।

धर्म की प्रचारक तीर्थंकर प्रभु स्थापित शासन संस्थाका अंग, उसका संचालक श्रमण प्रधान संघ अंग का, समयसार को छोड़कर कई शास्त्रों की आज्ञा-रूप अंग का, प्रतिषेध किया जाता है। शासन का मूलाधार आज्ञा प्रधानता को छोड़कर वर्तमान लोकशासन के विधान के अनुसार स्वतंत्र मंडल, ट्रस्ट, आदि बनाकर जुदा चौका बना लेना, यह स्पष्टतया उन अंगो का विरोधीपने की प्रतीति देता है। मंडल की संपत्तियाँ भी उस मंडल की ही गिनी जाती है। क्योंकि-ट्रस्ट किया गया है। उसकी पर वर्तमान राज्यतंत्र का अन्तिम नियंत्रण रहेगा। दि० सं० का परम्परागत शासन और संघ का नहीं। दि० सं० के तीर्थ, मन्दिर आदि पर दि० सं० का नियंत्रण और अन्तिम सर्वाधिकार चला आता है। क्योंकि–उद्देश भी जो ट्रस्ट में रखा होगा, वह भी उक्त मण्डल के मान्य मत का

प्रचार आदि के अनुसार रखा जाय यह स्वाभाविक ही है। इससे दि० सं० मान्य शास्त्रीय पद्धति अनुसार व्यवस्था नहीं रखी गई हैं। क्योंकि–शास्त्राज्ञा विरुद्ध रचना युक्त आधुनिक राज्यकीय पब्लीक ट्रस्ट एक्ट अनुसार व्यवस्था की जावेगी। क्योंकि—इस मत और संस्था का उत्थान ही नया है। पूर्वाचार्यों की परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इत्यादि कई हेतु से धर्म तत्त्व के पांच मूल भूत अंगों में से एक भी अंग की आशातना-विराधना-विरोध-उपेक्षा-अवफादारी-निषेध करने से सभी को अशातना आदि पहुंचते हैं। १ तीर्थंकर प्रभूपदिष्ट सांगोपांग शाश्वत धर्म। २ तीर्थंकर प्रभु स्थापित आज्ञा प्रधान वैध शासन व्यवस्था। ३ तीर्थंकर परमात्मा स्थापित संचालक श्रमण प्रधान संघ। ४ प्रभूपदिष्ट गणधर प्रभु दृब्ध द्वादशांगी और तदनुकूल पूर्वाचार्य विरचित शास्त्र। ५ और शासन के हितकी साधिका सप्तक्षत्र आदिक शासन की संपत्तियां रूप व्यावहारिक साधन। तथा धर्म के ओर साधन समूह।

और सोनगढ़ के मत में वे सभी एकान्त से आत्मा से पर मानें जाते हैं। पर में आत्मा रमण करता नहीं। पर द्रव्य दूसरे द्रव्य को उपकार करता नहीं। ऐसा एकान्त से माना जाता है। स्वाध्याय ट्रस्ट, मन्दिर, मुमुक्षु मण्डल, उसका विधान, उसकी सम्पत्तियाँ, यह सभी पर नहीं माने जाते हैं? क्यों?

अपना इससे ? इस हेतु से स्वयं सभी खोटा-अशुभ शुभ व्यवहार करे, किन्तु ओरों के लिए निषेध क्यों किया जाय ? यद्यपि शासन, धर्मानुष्ठान, सात क्षेत्र, संघ, शास्त्र, आदि सभी पर है, उसमें कोई शंका नहीं है। तथापि जहाँ तक वे समग्र आत्म विकास में साधक बनते हैं, वहां तक वे सभी धर्मांग होने से धर्म गिने गयें हैं।

जैन शासन के यह सभी रहस्य बिना जाने दि० जैन सं० में घुसते हैं, घुसने दिया जाता है। फिर भी सन्मान सत्कार दिया जाता है, यह आधुनिक भवाभिनंदि-अनात्म-वादी भौतिक हवा का प्रबल प्रभाव का परिणाम है। और उसमें दिलचस्पी यह जैनेतरपनेका लक्षण है।

परम्परागत कोई गुरु को जब मान्य नहीं किया है, तब शासन और श्री संघ की निरपेक्षता सिद्ध हो जाती है। पर-म्परागत गुरु को क्याँ न मानना ? क्या दिगम्बर संप्रदाय में गुरु परम्परा विच्छिन्न मानी गई है ? क्या तीर्थंकर प्रभु की तरह स्वयंबुद्धपना प्राप्त हुआ है, जिसे गुरु की आवश्यकता नहीं ? उत्सूत्र प्ररूपणा से शास्वत धर्म की आशातना है। समय-सार को ही स्थान देने से ओर ओर शास्त्र ग्रन्थों को भी समयसार के अनुसार घटा लेने से, और समयसार का भी यथार्थ तात्पर्य न निकालने से शास्त्र की भी आशतना। दिग-

म्बर संप्रदाय मान्य परम्परागत सप्तक्षेत्र के प्रबन्ध में तटस्थ रह कर, अपना मुमुक्षु मण्डल के कार्य में ही खर्च करना। यह पांचों अंगों की इस तरह जान बुझकर आशतना की जाती है।

यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि—"जिसको दिगम्बर सम्प्रदाय की या जैन धर्म की परम्परागत शिस्त-मर्यादा इत्यादि की परवाह न हो, ऐसे लोग अंगत भक्त बनकर मान-पत्र-अभिनन्दन पत्र देवे, उनसे "दिगम्बर सम्प्रदाय की उसमें योग्य नीति रीति से सम्मति है।" ऐसा मान लेने का कोई कारण नहीं है।" मानपत्र अभिनन्दन पत्र यह तो एक आधुनिकता का अनुकरण मात्र है। ऐसे पत्र-लेना भी धार्मिक परम्परा की वस्तु नहीं है। जिससे इसका महत्त्व नहीं है। दि० सं० अनुसार जब गुरुत्व सद्गुरुत्व की साथ नाग्न्य-दिगम्बर अनगार साधुपना अनिवार्य ही है। यदि जब ऐसे अगारि को ऐसा पत्र दिया जाय, तो अनगार गुरु को कितना बड़ा लम्बा-चौड़ा पत्र देना चाहिये? और वे रखे भी कहां? यदि उन गुरु वर्ग को जब मानपत्र-अभिनन्दन पत्र नहीं दिया जाता है, इससे क्या यह मान लेना चाहिये कि 'अगारी से अनगार की महत्ता अब नही रहीं है? अगारी का अधिक महत्व है।' इससे सद्गुरु वन कर ऐसा पत्र लेना भी गुरु वर्ग का अपमान करने का जैनेतरत्व का सूचक है।

दिगम्बर संम्प्रदाय के सच्चे वफादार अगुआओं को क्या यह विचारणीय नहीं है ? दिगम्बर संप्रदाय की परम्परागत मर्यादाओं को शिस्तको लुप्त कर यदि सोनगढ़ के मत और उसके मुमुक्षु मण्डल के आधार पर नई परम्परा चलानी हो, और पूर्वाचार्यों की परम्परा को धीरे-धीरे बन्द कर देने का हो, तो दूसरी बात है। आज के स्त्री स्वातंत्र्य के पक्षपाती कोई दिगम्बर गृहस्थ स्त्री मुक्ति के पक्ष में अपना मत दे देवे, उसी तरह श्वेत वस्त्रधारि को गुरुतत्त्व में दि० सं० के कई गृहस्थों की ओर से स्थान दिया जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं है। उसमें श्वेताम्बर शासन का विजय कदाच उपर से मालूम पड़े, किन्तु ऐसी सिद्धान्त शून्य मान्यताओं से श्वेताम्बरों को भी राचना नहीं चाहिये। सिद्धान्त शून्य का पक्ष से—कट्टर दिगम्बर का विरोध हजार गुना अच्छा है। क्योंकि-शेष में वह परमात्मा जिनेन्द्रदेव का वफादार है। जो सिद्धान्त शून्य है, वह प्रभु की आज्ञा का भी विरोधी ही है।

१४ व्यापन्नदर्शनता और पुद्गलानन्दीपना

इस प्रकरण में दी गई विचारणा अधिक सूक्ष्म होने से और संक्षेप में दी जाने से शान्ति और विचार पूर्वक बांचने का पाठक महाशयों को निवेदन किया जाता है। आधुनिक अनात्मवादी भौतिक प्रगति को विश्व व्यापक बना देने के

लिए, विदेशियों ने, प्रथम तीर्थंकर प्रभु से प्रचलित की गई आध्यात्मिक संस्कृति अनुसार प्रजाके जीवन में प्रचलित धार्मिक सामाजिक आर्थिक कौटुम्बिक सभी व्यवहारोंको लुप्त कर देने का लक्ष्य रखा है। इस हेतु से जीवन में जमाने के कल्पित नाम से आमूल-चूल-नखशिख-परिवर्तन कर डालने का जो कार्य क्रम चलाया है, और उसके स्थान पर आधुनिक जीवन प्रणाली-का को जीवन के प्रत्येक अंश में प्रोत्साहित कर अनेक प्रलोभनों से स्थापित कर प्रचलित की जाती है। और आधुनिक शिक्षित वर्ग—आधुनिक धनीवर्ग-प्रागतिक वर्ग-उस प्रक्रिया में अग्रसर होकर रस पूर्वक उस प्रणालीका को अपनाते हैं, और "जुन-वाणी-रूढ़ि चूस्तता' इत्यादि कहकर परम्परागत सभी प्रणालिका का एक या दूसरे रूप में विरोध करते रहते हैं। और ऐसे लोगों को आधुनिक आर्थिक सम्पत्तिमें से अधिक भाग मीलता ही है, यानि अधिक भाग दिया जाता है। क्योंकि-विदेशियोंकी यही नीति है। जिससे वे लोग आधुनिक भौतिकवादी साधनों का खूब अधिक उपयोग कर सकते हैं। और प्रागतिक और प्रतिष्ठित भी गिने जाते हैं। यह आत्मवादी संस्कृति में सुधार या सुव्यवस्था लाने की प्रक्रिया नहीं है, किन्तु मूल से उखाड़ देने की प्रक्रिया है। 'सोनगढ़ के मतमें प्रवेश करनेवाले धनी मानी वन जाते हैं।' ऐसी हवा में तथ्यांश है। वह कोई उस मत का चमत्कार नहीं है। किन्तु वह साबित करता है कि-वह मत

अनात्मवादी भौतिक प्रगति का सहयोगि होने से आधुनिक आर्थिक सम्पत्ति उन लोगों को अधिक प्राप्त होती है, और आधुनिकता के रंग से रंजित कार्यों से सम्पत्तिशील वर्ग परम्परागत धर्म को छोड़कर इसमें प्रविष्ट होते हैं। क्योंकि-इस मत में कुछ करने का नहीं है। खाली स्वाध्याय के नाम से वाचन-श्रवण करने का ही रहता है। यों तो आज नाँवेल वर्तमान पत्र आदि खूब बांचे जाते हैं। उनके स्थान पर धार्मिक ग्रन्थ को बाँच लेने का-सुन लेने का ही रहता है। परम्परागत कुटुम्ब में प्रचलित आचारों को-कुरूढ़ि मानकर छोड़ देने की बाहर तो हवा फैलती ही है, और धर्मोपदेश से भी जब व्यवहार-मूढ़ता कहकर इस मत से वह छुड़ाई ही जाती है।

उस मत में-रात्रि भोजन—कन्द मूल इत्यादि का त्याग इत्यादि की आचरणा परम्परागत असर का परिणाम है, और इतना भी न हो तो सौराष्ट्र में आचार-भ्रष्टता गिनी जावे, जिससे वह मत घृणास्पद हो जाय। हलवाई की दुकान के मिष्टान्न खाने का त्याग दिगम्बर सम्प्रदाय में शुद्धि का ख्याल पूर्व देश के इतर लोगों का परिचय से अधिक होने से उसमें प्रतिष्ठा पाने के लिये करना पड़ता है।

किन्तु वास्तव में—यह सभी शुभ का आचरण उस मत

में धर्मतया वैध माना गया नहीं है। फिर भी-मांसाहार-मद्यपान भी न करने का उपदेश यह मत नहीं दे सकता है, क्योंकि-उसके सिद्धान्त से विरुद्ध है। तथापि--पूर्व परम्परागत कुटुम्बगत संस्कार से उस प्रकार के अभक्ष्य भक्षण न करने का सहज रीवाज प्रचलित है। अन्यथा, उसका त्याग का समावेश श्रावक के सातमें व्रत में होता है। बारह व्रत को तो उन लोगों को लेने का नहीं हैं। और 'पुद्गल का काम पुद्गल करता है उसमें आत्मा को क्या ? एक द्रव्य दूसरा द्रव्य को कुछ कर सकता ही नहीं हैं," अभक्ष्यादि पदार्थ पुद्गल है, और खाता है शरीर, वह भी पुद्गल ही है। उसका कार्य से आत्मा को क्या ? इत्यादि प्रकार की एकान्त फिलोसोफी का प्रचारक मत किस तरह शरीर की प्रवृत्ति का निषेध कर सके ? किन्तु ऐसा त्याग न किया जाय, तो वर्तमान में मत की प्रतिष्ठा धूल में मिल जाय, क्योंकि अब भी भारतीय जैन जनता में परम्परागत संस्कार काफी है, आधुनिक राज्य-तंत्र मांसाहार का प्रचार जोर से कर रहा है, और एकाद पीढीबाद अमांसाहारी लोगों में भी मांसाहार की घृणा उड़ जायगी, तब "पुद्गल का काम पुद्गल करता है," यह फिलोसोफी धार्मिक क्षेत्र में और आगे बढ़ेगी, उस समय इस मत का यह निरूपण धार्मिक सिद्धान्त के रूप में मनाकर स्वच्छन्द

आचरण में कितना पूरा सहयोगी हो गया है ? वह उस समय प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

यहां व्यवस्था का विचार थोड़ा आवश्यक है—

(१) भवाभिनन्दीपना (२) मार्गानुसारिता (३) सम्यग्-दर्शनिता। (४) व्रतीपना। (५) शुद्धआत्मनिष्ठता।।

१ संसार प्रियता, अनादि घोर मिथ्यत्व। इसमें आधुनिक अनात्मवादी भौतिकवाद और तदनुसार जीवन प्रणालीका का भी समावेश होता है।

२ मार्गानुसारिता-मोक्षः पुरुषार्थानुकूल धर्म-अर्थ काम के आत्मवादि सभी जीवन व्यवहारके-संस्कृति के अनुकूल जीवन के प्रति वफादारी और आचरण। उसमें दो भेद है (१) परम्परा-गत जैन कुटुम्ब में जन्म धारण कर परम्परागत मार्गानुसारिपने की प्राप्ति होती है। (२) दूसरा-आत्मवादी जैनेतर धर्मि कुटुम्ब में जन्म लेकर उक्त मार्गानुसारिपने की प्राप्ति।

जैन कुटुम्ब में जन्म लेकर मार्गानुसारिपने की प्राप्ति को उपचार से व्यावहारिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी मानी जाती है। और मार्गानुसारिता की नींव आत्मवाद पर होने से वे भी आंशिक आध्यात्मिक योगि माने जाते हैं। जैन कुटुम्ब में जन्म लेकर परम्परागत शिस्त-व्यवस्था-मर्यादा की वफादारी रखता है, वहाँ तक जैनत्व में क्षति नहीं आती है। जैन शासन

के कोई भी अंग से विरुद्ध प्ररूपणा की, उत्सूत्र प्ररूपणा की, या कोई भयंकर आचरण कर लिया, या एकान्त प्रतिपादनकर स्वच्छन्दतया आत्मवाद या जैनत्व निरपेक्ष मत निकाल दिया, तो जैनेतरत्व-अजैनपना प्राप्त हो जाता है। और जैनेतर कुटुम्बमें जन्म लेने पर भी, श्री संघ में आज्ञानुसार प्रविष्ट होकर, प्रचलित मर्यादा की वफादारी रखने वाला भी जैन बन सकता ही है। जैनेतर कुटुम्ब में जन्म लिया हो, और सम्यग्दर्शन होने पर भी जहां तक श्रीजैनशासन में विधिपूर्वक प्रवेश न किया हो, वहाँ तक वह व्यवहार से जैन नहीं गिने जा सकता है, और जैनतया उसका व्यवहार कानूनी तौर से भी नहीं हो सकता है।

३ सम्यग्दर्शन प्राप्तता—जैन कुटुम्बजातः तो शुद्ध जैनी है, और उस कक्षा को सामने रखकर शासन की सभी मर्यादा व्यवस्थित की गई है। जैन-धर्मी का यह प्रकट लक्षण माना जायगा। इसमें क्षायिकः औपशमिकः और क्षायोपशमिकः सम्यग्दर्शन प्राप्त जीवों का समावेश होता है। उनको भी कई धार्मिक व्यवहार प्रवृतियाँ करने की है।

४ व्रती में—देशविरतिधर और सर्व विरतिधर का समावेश होता है।

५ शुद्ध आत्मनिष्ठता में–अप्रमत्त भाव से उपर की भूमिकाओं का समावेश होता है।

जैनमार्गानुसारिता से जैन धर्मिपने का प्रारम्भ होता है।

१ सम्यग्दर्शनी को ज्ञानयोग में—आत्मा का भवाभिनन्दिता से ले कर आत्मा की पतन भूमिका का तथा शैलेशी अवस्था तक की विकास भूमिका का यथाशक्ति ज्ञान करना आवश्यक रहता है। जिससे आत्मविकास का प्लान-नकशा-ख्याल में रहे। तथा उस विकास भूमिका परत्वे करने के योग्य आचरणा का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक रहता है। किन्तु—शैलेशी तक का शास्त्रके अनुसार ज्ञान मात्र से "वे भूमिकाएँ प्राप्त हो गई हैं।' ऐसा एकान्त से मान लेना नितान्त मिथ्यात्व है।

इस हेतु से जैन मार्गानुसारिता से लेकर शैलेशीतक की अवस्थाओं को जैनधर्म मानने में कोई बाधा नहीं है। तथापि अपेक्षा विशेष से भिन्न-भिन्न भूमिका को भी जैन धर्म मानने में आता हैं। तो अपेक्षा से उतरती कक्षावालों को अजैन-धर्मी मानने में हरकत नहीं। क्योंकि-नय सापेक्ष बचन होता है, वह जिनाज्ञा विरुद्ध नहीं बनता है। किन्तु-अपेक्षा आगे रखकर बोलना चाहिये। जैनधर्म के अनुयायि वर्ग का आज का कोई पक्ष जैन धर्मीपना मानने की नय सापेक्ष जो व्यवस्था है, उसका निषेध करता नहीं है। उसी तरह ५ वीं आत्मनिष्ठ कक्षा को भी जैनधर्मीपना मानने का इन्कार भी

नहीं करते हैं। तब सोनगढ़ के मत में ५ वीं कक्षा में प्रविष्ट आत्मा शिवाय को जैन धर्मी क्या ? धर्मी भी नहीं माना जाता है।

"तत्त्व सम्बन्धी बे बोल"-"कानजी स्वामिनी विचार धारा" पत्रिका में लम्बी चौड़ी खूब उत्सूत्र प्ररूपणा की है, किन्तु यहां उसकी समालोचना का अवकाश नहीं है।

किन्तु यह "कानजी स्वामिनी विचारधारा"-कह गई है, इससे उसको जिनोक्त नहीं कह कर, बचाव किया गया है। यह सब छोड़ कर हम आगे बढ़ते हैं। आगे जा कर कहा गया है कि "खरीरीते—सोनगढ़ना अनुयायियों आ बधा भावो ने शुभ भाव समजे छे। अने अज्ञानिओं एने धर्म माने छे। अने एवी रीते ज्ञानीना अने अज्ञानीना अभिप्रायमां मोटो फेर छे।"

इस वाक्य से-सोनगढ़ के अनुयायि सिवाय के और सभी जैनों को अज्ञानी की कोटि में रख दिये गये। और अल्पाधिक अंश में संवर, निर्जरा के साथ पुण्य बन्ध करानेवाली धार्मिक क्रिया को एकान्त से शुभ भाव मानने का सिद्धांत स्थापित किया गया। और उसको एकान्त से धर्म न मानकर उस व्यक्तिका धर्मिपनेका निषेध भी किया गया। और दूसरों को अज्ञानी ठहरा दिये गये। इससे मार्गानुसारिता आदि दूसरी

भूमिका से चौथी भूमिका तक के जीवों को धर्मी की कोटि से बहार निकाल दियें गयें हैं, यह निषेध भी जिनाज्ञा का भंग करता है। इससे इस मत का जैनेतरपना स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि-इसका स्पष्ट अर्थ यह स्वीकृत हो जाता है कि-'सोनगढ़ के मत के अनुयायि भी शुभ भावी है, धार्मिक नहीं है, तो दूसरों की तो बात ही क्या? इस अपेक्षा से खुद परम्परागत दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के वर्तमान अनुयायि वर्ग भी धार्मिक नहीं सिद्ध होते हैं।

अब हम यहाँ सोनगढ़ के मत के अनुयायिओं से पूछते है कि–"सोनगढ़ के मत के अनुयायि शिवाय के दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायि वर्ग में जो स्त्री बालक वृद्ध है, कि जो मात्र कुल परम्परा से जैन धर्म की वफादारी का पालन करते हैं, और उस सम्प्रदाय के अनुसार कुछ धर्माचरण और आपके मत के अनुसार शुभभाव का आचरण करते है, उन सभी को आप साधर्मिक मानते हैं? या नहीं? यदि नहीं मानते हैं, तो सोनगढ़ के मत के अनुयायिओंको छोड़ कर अन्य दिगम्बर वर्ग को आप क्या मानते हैं? क्या उन सभी को जैन धर्म से-जैन शासन से-बहिष्कृत या जैन धर्म को न पाए हुए मानते हैं? स्पष्ट कहीये।

यदि सभी को साधर्मिक मानते हैं, तो–जिसमें धर्म ही

नहीं, उसको साधर्मिक मानना अज्ञानी का अभिप्राय नहीं हो जायगा ? पद्धतिसर स्पष्ट जबाव दीजिये, उटपटांग बात मत चलाइये । "समानो धर्मो येषाम्, ते साधर्मिकाः ।" धर्म ही नहीं, तो समान धर्म कहाँ से ? । और साधर्मिक नहीं तो साधर्मिक जिमन किस सिद्धांत से जिमे जाते हैं ? हाँ, ऐसा कह सकते हैं कि—"जिस अपेक्षा से प्रचुर निर्जरा के साधक अप्रमत्तभाव आदि निश्चय सम्यग् दर्शन की अपेक्षा से जैन धर्मीपना याने धर्मि-पना शास्त्र में कहा गया है, उस अपेक्षा से हम उससे उतरती कक्षा के जीवों को धर्मी नहीं कहते हैं, अधर्मी कहते हैं, और उसको धर्मी कहने वालों को अज्ञानी कहते हैं ।" आपका यह वक्तव्य हो तो जैन दर्शन से संमत है । क्योंकि-अपेक्षा से कहा है। किन्तु उपर जो 'तत्त्व सम्बन्धि बे बोल' से श्री रामजी भाई माणकचन्द दोशी एडवोकेट का जो अवतरण दिया गया है, वह एकान्त से अधर्मीपना ठहराता है। इससे वह मिथ्या है। जैन शास्त्रविरुद्ध है। अतएव जिनाज्ञा विरुद्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

फिर भी-यदि वे लोग पुद्गलानन्दिपन से दूर रहकर यदि आत्मनिष्ठ रहकर बैठ रहते, तो भी कुछ विचार करने का प्राप्त होता था ।

यात्रा करने के लिए पैदल निकलते, त्यागमय आत्मनिष्ठा-

मय जीवन में–रह कर नीकल्ते, कुछ भी और धार्मिक आचरण नहीं करते, हाथ से बना कर रोटी खाकर, ध्यान मग्न स्थिति में शनैः शनैः निकल्ते, तो जरूर कुछ प्रभावना भी होती, आत्मवाद का कुछ प्रभाव भी पड़ता।

किन्तु यह यात्रा के बजाय—आज कल की टुर है और साथ में मत प्रचार का मुख्य उद्देश की सफलता करने का भ्रामक प्रयास क्यों न माना जाय ? यात्रा तो धार्मिक कृत्य है।

शा० इं० वि० जीने ठीक कहा है कि जिन पूजा मन्दिर प्रतिष्ठा आदि करने का कारण लोगों को खींच कर अपने मत में फंसाने की युक्ति मात्र ही है। इत्यादि भाव का लिखा है। आजकल आधुनिक भौतिकवादी लोगों भी जनता को खिंचने के लिए ऐसे धार्मिक प्रसंग भी खड़े करते हैं, या इसमें सहयोग देते हैं। यह एक प्रचार करने का तरीका मिल गया है। और आजकल हजारों की संख्या में इमारत बनाने का प्रवाह चल रहा है, इसमें ५-२५ मंदिर बना देने में कोई बड़ी साधना का पुरुषार्थ नहीं है।

उपरोक्त रीति से यात्रा निकालकर यदि यात्रा की जाती, तो आत्मार्थीपना या ज्ञानिपना कुछ माना जाता। किन्तु जिस तरह से अच्छा में अच्छा मिल सके, इतने आधु-

निक साधनो के सहारे से सुख-सुभीता से निकलना यह सभी मार्गानुसारिता की नहीं, किन्तु उन्मार्गगामिता की प्रेरक आधुनिक अनात्मवादिताके भौतिक प्रवाह को सहयोग प्रदायकता है। और वह भवाभीनन्दिता का द्योतक हो जाता है। और अपने–अपने घरों में तथा सोनगढ़ के आलीशान मकानों में भी आधुनिक जीवन में ओर जैनों से कुछ-कुछ अधिकता से रस पूर्वक ओत-प्रोत रहने से उन्मार्ग पोषकता से भवाभिनन्दिता प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो जाती है। इससे बढ़कर व्यापन्न दर्शनता के कौन से अधिक लक्षण चाहिये ? फिर भी-ओरों को अज्ञानी ठहराना और स्वयं को स्वयं ज्ञानी ठहरावे !

व्यापन्न दर्शनता का यही अर्थ है, कि-बाहर से धार्मिकता बतलानी और स्वच्छन्दपना चलाना। परम्परा प्राप्त जैन धर्म को छोड़, फिर भी यथार्थ को प्राप्त न कर, स्वच्छन्दता चलानी, यह सभी व्यापन्नदर्शनता के लक्षण है, जो इस सोनगढ़ के मत पर घटित हो जाते हैं। आधुनिक अनात्मवादी भौतिक प्रगति को रसपूर्वक सहयोग देने से भी भवाभिनन्दिता-पुद्गला नन्दिता और व्यापन्न-दर्शनता अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं। और परम्परागत जैन धर्म की मर्यादा का भंग और ऐकान्तिक निरूपण, इत्यादिके सोनगढ़के साहित्य और प्रवृत्ति में कई प्रमाण भरसक भरे पड़े हैं। प्लान मात्र से-नकशा मात्र से

इमारत नहीं खड़ी हो सकती है, तदनुसार प्रवृत्ति करनी पड़ती है, तब इमारत खड़ी होती है। इस तरह ज्ञान योग समजने की चीज है, जब कर्म और आत्मा को जूदा पाडने के लिए प्रयत्न किया जाय, तब धर्माचरणरूप प्रवृत्ति में पड़ने का कष्ट उठाना पड़ता है, और उस में आनेवाले विघ्नको हटाने में भी भाव युद्ध करना पड़ता है, उस समय कष्ट का अनुभव न हो, शिथिलता न आ जाय, उस हेतुसे आत्मा का शुद्ध स्वरूप का भान सतत रखने का होता है, नहीं के धर्म प्रवृत्ति छोड़कर पौदूगलानन्दिपना के पोषण के लिए "पर भाव से दूर आत्मा की रट' लगाई जाने का है। यह तो स्पष्ट अधर्म है। यह तो न निश्चय धर्महै, न व्यवहार धर्म भी। उपरोक्त ज्ञानयोग 'मोक्ष—मोक्ष मार्ग के-साधक और साधन-उपादेय है, इनसे अन्य सभी हेय ही है, ऐसा निर्णय **प्रणिधान** में उपयोगी है, प्रणिधान के बाद **प्रवृत्ति** और **विघ्न जयात्मक** प्रयत्न करना पड़ता है, तब **सिद्धि** प्राप्त होती है। पीछे से उसका ओरों के लिये **विनियोग** किया जा सकता है।

१५—स्वमत को प्रमाणित करने में भयः

इस मत के अनुयायि वर्ग और नेता अपने स्थान में बैठकर जैनधर्म के अलग-अलग पक्ष की निन्दा करते हैं, तथा अपने पत्रादि में छपाते भी हैं। किन्तु—किसी के साथ

वार्तालाप या चर्चा में उतरने से दूर रहते हैं। पालीताणा से अचार्य श्री विजयरामचन्द्र सूरीश्चरजी के प्रश्न के जबाब बिना दिये सोनगढ़ चले गये। और अपनी भाषण श्रेणि कई दिनो तक की जाहिर की थी, वह स्थगित करने की जाहिरात या सूचना बिना दिये ही बन्दकर चले गये। यदि कोई बात करने को आ जाते, तो उसको प्रथम तो हँसी-दिल्लगी में उड़ाने की चेष्टा भी की जाती है। या वकील रामजीभाई-लोजीकल पद्धति से उसको गभराने की चेष्टा करते रहते हैं। कोई प्रश्न का शुद्ध तर्क की कोटीपर कसकर जवाब देना मुश्किल हो जाता है, तब कहते हैं, कि "सुनो, पढ़ो, यह रहस्य जानना बहुत दूर है।" इस तरह भागना—चर्चा के मेदान में खड़ा न रहना, और अपना अलग मत चलाना, यह भी जैनत्व को लाञ्छन देनेवाला है। खीस्ती पादरी लोग भारत में दार्शनिक चर्चा में टिकने की गुंजाइश न रखने से ऐसे प्रसंग को टालकर स्वमत फैलाते रहते हैं। यह प्रमाणिकता नहीं है। "हम चर्चा में—बाद विवाद में उतरते नहीं।" "क्यों?" कारण यही है कि-तर्क शुद्ध जवाब देने में पूर्ण अशक्ति है। हो सकता है। तो ओरों की टीका-टिप्पणी या नया स्वमत का प्रचार न करना चाहिये। अलग चौका न जमाना चाहिये। सरलता से शास्त्र वांचन-पठन-पाठन करना चाहिये, नम्रता रखनी चाहिये

"हमारे से ऊँचा आजतक श्रीकुंद कुंदाचार्य के पीछे कोई हुए ही नहीं।" ऐसा अभिमान न रखना चाहिये।

१६—शासन-रक्षा में उपेक्षा:

यह भी जैनेतर पने का लक्षण बन जाता है, क्योंकि-जैन-शासन पर जब आपत्ति आ जाती है, तब जैनें को एक बल से सामना करने का आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह मत न श्वेताम्बरों की साथ न दिगम्बरों की साथ बैठ सकता है। क्योंकि-अपना चौका अलग जमा रखा है। और सामना करने में व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। वहाँ कोरी आत्मवाद की बातें चल सकती नहीं है। जैन शासन की रक्षा में जैन तटस्थ नहीं रह सकता है। न दूर रह सकता है। अजैनको परवाह नही रहती है।

१७—श्री संघ से निरपेक्षता:

अपने मण्डल के सिवाय श्री संघ की जिम्मेवारी में इस मत को सहयोग देने से दूर ही रहना पड़ता है, इतना ही नहीं, किन्तु उसमें अपना कोई सम्बन्ध या जिम्मेवारी-जोखमदारी लेने का भी नहीं रखा जाता। "मैं और मेरे भक्तगण, बस इतना हो हमारा कार्य क्षेत्र। और विभाव में क्यों पड़ना?" ऐसी मनोदशा से जब संघ और शासन के कार्य को जब विभाव मान लिया जाय, तो विभाव में रमणता किस तरह

की जावे ? इस तरह की निरपेक्षता भी जैनेतरत्व का लक्षण बन जाता है। आत्मा आत्मा की रट लगाने मात्र से धर्म नहीं होता। किन्तु साथ में धार्मिक आचरण भी करनी चाहिये। साथ में गुरु सापेक्ष व्रतादि करने चाहिये। जैनशासन जैन-संघ-जैनशास्त्र और सप्त क्षेत्रादि उन सभी में वैयावृत्य विनय भी करना चाहिये, सहयोग देना चाहिये। अपना भाग भी देना चाहिये। उसमें उपेक्षा-तटस्थताः रखने का भी भाव आया, कि अधर्म हो जाता है। यद्यपि सात क्षेत्र भी विभाव ही है। पर ही है, किन्तु और विभाव से छुटकारा कराने के लिये प्रभु ने उस विभावों को जैनशासन में प्रधान स्थान दिया है। उसकी उपेक्षा धर्म का ही अपमान है। क्योंकि-धर्म के सिद्धान्त आचरणः शासनः संघः शास्त्रः सप्तक्षेत्रः इत्यादि समग्र अंगात्मक धर्म एक अंगी है। देव-गुरु धर्म में से धर्म तत्त्व की आराधना में उस सभी का समावेश होता है। किसी की भी उपेक्षा धर्म की विराधना है। इस मत में उपेक्षा मात्र नहीं है, किन्तु अपना चौका शिवाय के प्रति घृणा है, और घृणा का प्रसंग-प्रसंग पर मौका मिलने से प्रचार भी किया जाता है। विचरणीय तो यह है कि-मान लिया जाय कि—सोनगढ़ के मत दिगम्बर-जैन-मुमुक्षु-मण्डल के सभ्य सच्चे जैन है, तो सिवाय के परम्परागत ओर सभी श्वे० दि० जैनेतर ठहर जाते हैं। पुण्य-शुभ का आचरण करनेवाले है। धर्मी तो कोई नहीं, तो कितनेक दि०

विद्वानों की दृष्टि से और सोनगढ़ के मत की अपेक्षा से धर्म नहीं, तो साधर्मिक किस तरह ? और साधर्मिक वात्सल्य किस तरह किया जाता है ? और जिमा जाता है ?

१८—जिनाज्ञा और जैन शासन से निरपेक्ष जैनों का सहयोग

जिनाज्ञा और जैन शासन की प्रति जिनकी सापेक्ष वृत्ति है, वे दिगम्बर सम्प्रदाय के धार्मिक लोग इस मत में सहयोग तो देते ही नहीं, किन्तु विरोध ही करते हैं। यथा बम्बई के समस्त दिगम्बर जैन समाज के नाम से जो प्रस्ताव प्रसिद्ध हुआ है, बोरीवली से दि० जैन मुनि श्री का लोच महोत्सव के समय का व्याख्यान हुआ है, उसमें इस मत को लक्ष्यमें रखकर महा मिथ्यात्वका प्रचारक कहा गया हैं। तथापि आधुनिकता से प्रभावित होकर कई दिगम्बर—श्वेताम्बर गृहस्थवर्ग सन्मानादि में भाग लेते भी है, क्योंकि—जिनाज्ञा का भंग और जैन शासन की अपभ्राजना की जिनको परवाह नहीं है, ऐसे लोग और कुछ न देखकर मात्र आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से या मुग्धभाव से सहयोग में रहते हैं। इस हेतु से—यात्रा का कार्यक्रम में एक इस तरह की युक्ति रखी गई है, कि यात्रालु वर्ग की मुख्य संख्या प्रथम पहुंच जावे, और पीछे से उनके गुरु आवे, उस समय यदि स्थानिक मुग्ध

दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रावक वर्ग मिल जाय, तो ठीक, नहींतर पहिले से पहुंच जानेवाले यात्रिकगण ही अपने गुरु का जुलुस निकालकर मुकाम पर ले जावे। यह क्रिया स्वभाव परिणति मानी गई होगी? दि० विद्वानों को भी ऐसा करने को था कि "जहाँ तक पण्डितों की साथ बात-चित होकर निर्णयन हो न जाय, वहाँ तक आपकी तरफ से धर्म के विषय में कुछ भी लिखना बोलना बन्ध रखना चाहिये।" यह व्यवस्था न्याय युक्त थी। शुरु में कतिपय दिगम्बर जैन पंडितों को बुलाकर प्रस्तुत मत की जैन शासन के साथ संगति का सीधा या आडकतरा सर्टीफीकेट लेने की चेष्टा की गई थी। सम्भवित है कि मात्र बाह्य दिखाव और सभारम्भ की चमक में दिग् मूढ़ होकर या जिनाज्ञा और जैन शासन निरपेक्षता व आधुनिकता के रंग से रंगे हुए कदाच किसी-किसी ने सभ्यता के तौरपर भी सहानुभूति प्रगट की भी हो। किन्तु बम्बई के प्रस्ताव आदि कई प्रयत्नों ने उनको निष्फल और अयोग्य प्रमाणित कर दी गई है। जिनाज्ञा और जैन शासन निरपेक्षों की सहानुभूति देने का प्रयास और उसमें आनन्द मानना भी जैनेतरत्व का लक्षण है। ईसाई धर्मिओं ने चलाई आधुनिक वेगवती धर्म-परिवर्तन की आधुनिक कूटनीति का आश्रय लेकर धर्म परिवर्तन से खुशी होने से भविष्यत् में मौलिक धर्मों को क्या हानि

होगा ? और परम्परागत अस्तित्व की जड़ किस तरह हिल जायगी ?

यदि परम्परागत सभी जैन परंपराओं को छोड़कर यदि सभी इस मत में दाखिल हो जाने की मात्र कल्पना की जाय तो क्या परिणाम आ जाय ?

१ तीर्थंकर प्रभु की परम्परा से प्राप्त सारा जैन शासन उठ जाय-शास्त्र संग्रह और कई पूर्वाचार्य का नाम मिट जाय, आदि प्रभु स्थापित धर्मानुकूल चार पुरुषार्थ की संस्कृति उठ जाय।

गुरु रहित स्वयंसंबुद्ध सोनगढ़ के मत के स्थापक ही नया तीर्थंकर और उसका मत पूरा जैन धर्म बन जाय-मात्र समयसार शास्त्र, श्री सीमन्धर स्वामि मात्र मुख्य तीर्थंकर प्रभु, और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ही आचार्य शेष में रह जाय। यद्यपि समयसार में तो श्री सीमन्धर प्रभु का नाम और श्री कुन्द-कुन्द स्वामी को ही गुरु मानने का आदेश नही मिलता है।

ऐसा मत जैन नाम के भी लायक बन सकता है ? नहीं। और आधुनिक भवाभिनंदि भौतिकवाद के पक्ष से भवाभिनंद जैनेतर मत स्वयं सिद्ध हो जाता है।

इससे अपना भावी पीढ़ी को संसार में रूलाने वाली जैन शासन की अपभ्राजना से दूर रखने को इच्छुकों का कर्तव्य है कि-इस मत की छाया न ली जाय।

यहां एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि—हमारा कथन एकान्त से नहीं है। किन्तु जिस अपेक्षा से जैन-जैनेतरपने की व्यवस्था मानी जाती है, उस नयकी अपेक्षा से है। अन्यथा-वेदान्तादि भी अपेक्षा से जिन-देशना होने से तदनुयायि वर्ग को भी जैन मान सकते हैं। ऐसा शास्त्र में उल्लेख भी मिलता है।

"चित्रा वा देशना तत्तन्नयैः कालादि-योगतः"

उसके एकान्त पक्षंका खंडन जैन दर्शन करता है। जैन शास्त्रोक्त व्यवहारका एकान्त से निषेधः और अनात्म वादी व्यवहार का रस पूर्वक पालनः दोष को छोड़कर भी सोचे, तो निश्चय नय का एकान्त से प्रतिपादन भी महा दोष बन जाता है। अपेक्षा रखकर कहा जाय तो कोई विरोध नहीं है। क्योंकि—जो निरुपण किया जाता है, वह जैन शास्त्र में है।

आज प्रत्येक धर्मः संप्रदायः समाजः इत्यादि में दो परम्परा प्रचलित हो गई है।

(१) पूर्वाचार्य परम्परागत सांस्कृतिक परम्परा (२) आधुनिक अनात्मवादी भौतिक प्रगति पोषक स्वरूप की परम्परा। यह दूसरी परम्परा की कई भूमिका प्रचलित हो चूकी है। जिसका ध्येय शनैः शनैः मूलभूत परम्परा का यथा शक्य "जुनवाणी" "रूढिचूस्त" "अन्ध परम्परागत" कहकर नाम शेष करनेका कार्यक्रम को सफल करने का है।

(१) प्रथम परम्परा के दि० जैन विद्वान वर्ग यह सोनगढ़ के मत को—"मिथ्यात्व गुण स्थान वर्ती" "धर्म ध्वंस कारिणी प्रवृत्ति" धर्म का मूल उखाड़नेवाली प्रवृत्ति बतलाते हैं।

(२) दूसरी नई आधुनिकता के पक्षकार दिग० जैन पंडित वर्ग ने—सोनगढ़ के मतानुयायियों को साधर्मिक रूप से संवोधित किया है।

आज खुद अपने को सच्चे जैन मान ने वाले भी अपनी ब्रह्मचर्यादि प्रवृत्ति को शुभ मानते है धर्म मानते नहीं है। तो सोनगढ़ मत से इतर दि० जैन की प्रवृत्ति को धर्म कैसे माना जाय ? जब धर्म ही नहीं, तब परस्पर साधर्मिकपना किस तरह निर्णीत किया जाय ?

यदि कोई भी अपने को दिगम्बर जैन कह कर प्रसिद्ध करे, तो वे सभी क्या दिगम्बर जैनों के लिए साधर्मिक बन सकता है ? कोई दिगम्बर जैन संप्रदाय को मान्य करनेवाली समाज में जन्म लेनेवाली व्यक्ति आर्य समाजिष्ट, ईसाई-या इस्लाम हो गई हो, तो वह व्यक्ति भी दिगम्बर जैनों की साधर्मिक मानी जायगी ? तथा जो वैदिक साधु वर्ग नग्न दिगम्बर रहते हैं, और उसमें से भी बहुत सी अच्छी-अच्छी व्यक्ति हो, और वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, परिग्रह रखते नहीं, चोरी करते नहीं, झूठ बोलने का प्रयोजन रहता नहीं,

भिक्षा मांग लेवे, इस हेतु से कोई खास हिंसा करने का प्रयोजन नहीं। ठंडी आदि से बचने का खास प्रयोजन के लिए भस्म तथा अग्नि का उपयोग कर लेवें। समयसार भी वांचे। ऐसे स्व-समाज अनुसार धर्म का आचरण करनेवालों को भी साधर्मिक माने जाते हैं? क्यों नहीं माने जाते हैं? यह सभी प्रश्न सामने आते हैं। उनका समाधान करना पड़ेगा।

३—सोनगढ़ का मत श्वेताम्बर जैनपने का स्वयं इन्कार करता है। दिगम्बर जैनत्व भी अद्यापि असिद्ध है। क्योंकि पूर्वाचार्य परम्परागत विद्वद् वर्गः और आधुनिकता के पोषक विद्वद् वर्गः दोनों का भीत विरोधः है।

दिगम्बरत्व और जैनत्व जिस मत में असिद्ध हो, वह कोई भी जैन मन्दिर में और तीर्थ में किस तरह से जा सकता है? प्रवेश कर सकता है? यह भी प्रश्न उठते हैं। अन्यथा, अनवस्था दोष खड़ा रहेगा। यह आधुनिक कमजोरी भविष्यत् के लिये जैन शासन के लिए कितनी खतरनाक हो जायगी? यह भी सभी जैनों को खूब विचारणीय प्रश्न है।

श्वेताम्बर जैन शास्त्रों में तो शासन रक्षा के लिए प्रयत्न करने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उनमें से दो गाथाएँ दी है।

आणा-भंगं दट्ठुं मज्झथा ठिंति जे तुसिणिआ य।
अ-विहि-अणुमोअणाए तेसिं पि अ होइ वय-लोवो।

भावार्थ—"(जिनेश्वर देव की) आज्ञा का भंग देखकर

जो मध्यस्थ भाव रखकर चूप रहते हैं, उन्हों का व्रत भी अविधि की अनुमोदना करने से नहीं रहता है।"

क्योंकि सम्यग् दर्शन ही अनाचार दोष से दूषित हो जाने से ब्रह्मचर्यादि ओर व्रत भी किस तरह टिक सकें ?

सव्व-त्थामेण तहिं संघेण य होइ लगियव्वं।
स-चरित्त अ-चरित्तीण य सव्वेसिं होइ कज्जं तु ॥

भावार्थ—"उस [जैन शासन के अहितकारी तत्त्वों को रोकने] में सारा संघ ने सर्व शक्ति से लग जाना चाहिए। क्योंकि—यह कार्य देशविरति—सर्व विरति धर चारित्र पात्रों और चारित्र रहित, एवं सभी [जिनाज्ञा धारक धार्मिकों] का है ही।"

कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

जैन शासनादि-धर्म के अंगों की प्रति पूर्ण वफादारी और रक्षण की चेष्टा इत्यादि सम्यग्दर्शन के महाप्रतीक है।

(७) सारांशः

१ प्रत्येक धर्म के अनुयायि वर्ग के सामने प्रत्येक धर्म शास्त्रों ने यह आज्ञा फरमाई है कि—"धर्माचरण और सांस्कृतिक मार्गानुसारी शुद्ध व्यावहारिक जीवन मार्ग को अनुसरो। और साथ में समझते रहो।" इस आज्ञा अनुसार मान्य महापुरुषो से प्रचलित मार्ग अनुसार, जन्म से लेकर

मरण-पर्यन्त जीवन प्रवाह चलता रहता था। और तथाविध व्यक्ति ज्ञानी होकर तद्-विषयक उपदेशः व्याख्यानः अध्ययनः इत्यादि से ज्ञान देते थे, प्रजा को सच्चा बोध भी मिलता रहता था। सन्मार्ग का प्रवाह चलता था। और आत्मवाद जीवन्त रूप में विजयवन्त था। आदि-पुरुप प्रचारित-अहिंसक-आत्मवादी-संस्कृति की छाया में पवित्र जीवन चलता था। २ विदेशिओं ने आकर-अपनाराज्यकीय-आर्थिक-सामाजिक-व्यावसायिक-इत्यादि प्रकार के विजय करने के लिए-अनात्म-वादि भौतिक प्रगति का प्रचार शुरू करने के लिए उलटी विचार-धारा चलाई, की "समझो, पीछे करो।"

न्युमोनीया के रोगी-प्रथम दवाई के द्रव्यः उसकी वैज्ञा-निक रचनाः और लाभालाभः समझेगा, बाद में दवाई लेगा, तो क्या वह बच सकेगा? नहीं। डॉक्टर या वैद्य के विश्वास पर बनाई गई शास्त्रोक्त दवाई लेनेसे वह बच सकता है। उसी तरह संसार-रोगिकों धर्माचरण-में प्रेरिका व्यवहार क्रिया-महापुरुषो ने बनाई हुई—भावरोग मिटाने की और कर्म दोषों को अलग कर आत्मा को विशुद्ध करने की औषध की गोलीयाँ को लेकर साथ में समझने की कोशीष करने से अधिक फायदा मिलता है। इस हेतु से बचपन से धार्मिक आचार पिता के साथ पुत्र करता था। पीछे से यथाशक्ति समझता भी था। इसमें से कोई महाज्ञानी धर्मात्मा भी हो सकते

थे। ओरों को धर्म मार्ग में प्रेरते थे, और बोध से पुष्ट भी करते थे। ३ "किन्तु समझना और पीछे करना।" यह उलटे उपदेश से समझने का अन्त न आवेगा। करने का प्रसंग भी आवे नहीं। किन्तु, यह उलटा उपदेश वहां तक सीमित न था। समझने के लिए धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित प्रवृत्ति के सामने प्रतिवाद के रूप में **स्वाध्यायप्रवृत्ति** शुरु की गई। किन्तु बहार के क्षेत्र में "समझने" के स्थान पर भौतिक-वादी आधुनिक शिक्षण का प्रचार घुसा दिया गया। इसमें से ही आधुनिक युनिवर्सीटी-कॉलेज-स्कूल आदि प्रचलित हो गये। अन्यथा, भारत की उस समय की प्रजा यकायक यह शिक्षा लेने के लिए तैयार नहीं होती।" "समझना और पीछे से करना" इस मन्त्र से मुग्ध वर्ग उस समय मिल गये, आधुनिक शिक्षाने पैर जमाया। अब "करने का" प्रश्न आया। जब लोग करने गये, तब उस वख्त-बहार के आचरण करने के लिए रख दिये गये। दूध के स्थान पर चाय। धोती के स्थान पर पटलुन। पघड़ी के स्थान पर टोपी। शिखा के स्थान पर अग्रचोटी। भोजन में धातु के बरतन के स्थान पर काच-चीनी-मिट्टी के बरतन। इत्यादि सेंकडो जीवन व्यव-हारों में समझे-बिना समझे विदेशीय अनुकरण कराया गया। और सेंकड़ो वस्तुओं को स्थान देकर अपना व्यापार बढ़ा लिया। वहां पर समझ कर करने का सिद्धान्त न रखा गया।

वहां, फैलाई गई स्वार्थी इन्द्रजाल के पर "जमाना: युग:" का कृत्रिम लेबुल लगा दिया गया। बस, गतानुगतिकतासे "जमाने के" नाम से उसके पीछे दौड़ने में कुछ सोचने-समझने की आवश्यकता का स्वीकार नहीं किया गया। इस रिति से समझ में और आचरण में पलटा लाने की तरकीब विजयवती हो गई। और अनात्मवादी भौतिक प्रगति का प्रचार शुरू हो गया। यह प्रत्यक्ष ही है। फिर भी एक हाथ पर परम्परा-गत धार्मिक वर्ग में लोकप्रियता टिकाने के लिए, उन वर्ग को परम्परागत नीति में खूब सहयोग दिया गया। और दूसरे हाथ पर "समझना, पीछे आचरना" इस तरह का सिद्धान्त को रखने वाला वर्ग खड़ा कर दिया गया था। वह आज जोर पकड़ रहा है। (४) जैन धर्म के विषय में सबसे पहिले कवि राजचन्द्रजी फंसे। और कोई शिक्षित वर्ग तथा तत्सहकृत जैन व्यापारी वर्ग भी फंसे। (५) इसमें क्रिया का विरोध करनेवाला एकान्त आत्मवाद का उपदेश खूब उपयोगी हुआ। (६) उसमें समयसार ग्रन्थ का बिना समझ उसका उपयोग किया गया। (७) **समयसार में**—अप्रमत्तगुण स्थानक वर्ति मुनिका निश्चय सम्यग् दर्शन की दृष्टिसे चतुर्थ-पंचम-षष्ठगुण स्थानक की क्रिया को तथा उसके नीचे की मार्गानुसारिपने में जो अभ्यास—क्रिया आचार आदि को: हेय बतायें गये हैं। क्योंकि-उक्त मुनि को आगे ले जाने के हैं। तो उसका

आशय उलट कर अप्रमत्त भाव में अप्राप्त चतुर्थादि गुण स्थानक वर्ति जीवों की क्रिया को और मार्गानुसारि जैनो की अभ्यास क्रिया को भी विदेशीय आशय के "समझो और करो" निषेध में **समयसार** ग्रन्थ का उपयोग किया गया। यह बड़ा भारी अनर्थ फैल गया। चतुर्थादि गुण स्थानक वर्ति सम्यग् दर्शन और सप्तमादि गुण स्थानक वर्ति निश्चय सम्यग् दर्शन को जो विषय भेद है, उसको लक्ष्य में न रखकर उत्सूत्र प्ररूपणा की गई। (९) एकान्त से आत्मवादः नियतिवादः उपादान निमित्तवादः आदिका निरूपण कर उत्सूत्र प्ररूपणा बढ़ा दी गई। धर्मप्रेरक-पुण्यानुबन्धि पुण्यादि को भी धर्मतया न मानने का एकान्त से निषेध किया गया। (१०) फिर भी अपना "मुमुक्षुमंडल" का अलग चौका जमा दिया। (११) स्थानकवासी मुनिका कुछ वेश का अंशः और साधुपने का नामः साधुपना छोड़कर गृहस्थ अगारी अवस्था में आ कर भी उस नाम और वेप से पूजा-सत्कार पाने की युक्ति कायम रखी गई। क्योंकि-भारत की संत-पूजक-प्रजा प्रथम दर्शन से वेष को पूजती है। किन्तु-साधुपना छोड़ने बाद भी दंभः असभ्यताः और अप्रामाणिकता जारी रखे गये। गृहस्थ अगारी हो जाने बाद गृहस्थका पूर्व नाम रखना पड़ता है। तथापि साधु की प्रतिष्ठा पाने के लिए नाम कायम रखना योग्य नहीं। साधु न दिखाने के लिए, और प्रसिद्ध

नाम कायम रखनेके लिए, व्यक्ति का सन्मान कायम रखने के लिए, सौराष्ट्रादि में वणिक पुत्र के लिए प्रचलित सन्मान सूचक "शेठ" विशेषण यहां मैंने जोड़ दिया है। (१२) त्याग-मय जीवन के स्थान पर आधुनिक जीवन में और साधनों के उपयोग में अधिक फसे हैं। पुद्गलानंदीपना बढ़ गया है। सूर्योदय के पहिले घुमने को जाना। धातु के बरतन में खाना इत्यादि जैन साधु का आचार नहीं। (१३) फिर भी "सबसे अधिक आध्यात्मिक योगिपना प्राप्त किया है।" ऐसा प्रचार किया जाता है। किन्तु जैन दर्शन ही आध्यात्मिक है। दिगम्बर सम्प्रदाय के कोई भी साधुजी की उसकी साथ तुलना करने से वे साधु असमर्थ माने जाते हैं। (१४) स्थानकवासी संप्रदाय के साधुपने में कुछ वक्तृत्व शक्ति होने से आज भी वक्तृत्व किया जाता है। तथापि गुरुगम से न तत्त्व रहस्य प्राप्त करने से "कहाँ गलती होती है ? वह न वक्ता समझ सकते हैं, न उसके श्रोता वर्ग।

१५—फिर भी "अपना मत सब से उंचा होने से सच्चा जैनपना सोनगढ़ के मत में ही है" इस अपेक्षा से ओर सभी दि० श्वे० जैनेतर माने जाय। क्योंकि—सच्चे जैन सिवाय और सभी कच्चे जैन याने जैनेतर। क्योंकि-उसके मत की अपेक्षा से सभी शुभ भाव करनेवालें होनें से, धर्म नहीं। धर्म नहीं, तो वे जैन धर्मी भी किस तरह ? और जैन

धर्मी नहीं, वे जैनेतर। इत्यादि कई मान्यतादि दोषों से आक्रान्त यह सोनगढ़ का मत होने से जैनेतर मत होने में कोई शंका नहीं। और जैन शासन की अपभ्राजना—हानि करनेवाली अनेक प्रकार की भूमिका का प्रचार आज बहारकी प्रेरणा से चल रही है, उसमें से यह एक है।

(प्रासंगिक-देखो)

कई लोगों का कहना है कि—"सम्यग्दर्शन का स्वरूप किसी पण्डित ने आज तक ऐसा नहीं समझाया था।" किन्तु सोनगढ़ के मत में भी जो समझाया जाता है, वह भी प्रामाणिक किस तरह से हैं? क्योंकि-सप्तम गुणस्थानक का चतुर्थ गुणस्थानक में घटा देते हैं, और चतुर्थ का सप्तम गुणस्थानक में घटा देते हैं। पंडित लोग तो अप्रमत्तभाव का निश्चयनयका सम्यग्दर्शन का निषेध तो नहीं करतें हैं। सोनगढ़ का मत चतुर्थादि की तथा अभ्यास क्रिया का निषेधकर सारा जैन धर्म का पाया हिलाता है।

यदि जिनाज्ञा या जैन शासन या दि० संप्रदाय की मर्यादा की रक्षा की जिसको अपेक्षा न हो, वह कुछ भी करे, किन्तु जिसको अपेक्षा हो, वह किस तरह सत्कारादि कर सकते है? हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि—ऐसे लोक भद्रिकपना से भी महामिथ्यात्व के गहन वन की प्रति पैर धर रहे हैं। आशय ऐसा नहीं होगा, तथापि-भद्रपना से प्रवृत्ति ऐसी हो जाती

हैं। मेरी समझ में दि० संप्रदाय कुछ अधिक कट्टर समझा जाता था। किन्तु-ऐसी अराजकता देखकर आज आश्चर्य होता है।

१६–जैन-धर्म-शासन-शास्त्र-सिद्धान्त-मार्ग के नाम से उनके विरुद्ध जो कुछ हो, उसको रोकने का-प्रतिकार करने का प्रत्येक जैन का अधिकार है। श्वेताम्बर, जैन शासन को हानि पहुंचावे, तो दिगम्बर जैन को भी रोकने का अधिकार है। दिगम्बर जैन पहुंचावे, तो श्वेताम्बर को भी अधिकार है। जैन शासन को पहुंचती हानि को रोकने का अधिकार किसी भी आज्ञानिष्ठ जैन को है।

१७–दिगम्बर संम्प्रदाय पसन्द हो तो परम्परागत मर्यादाः मान्यताओंः आदि से संगत रहकर, विज्ञप्ति कर, उत्सूत्र प्ररूपण का त्यागकर, हो गई भूतकालीन भूलों का प्रायश्चित्तादि कर, विधिपूर्वक प्रवेश किया जा सकता है। नय सापेक्षपना रख कर आत्मस्वरूप का उपदेश देने में कौन रोक सकता है? ऐसे उपदेशकों की जैन शासन में आवश्यकता सदा रहती है। और सभी आत्मवादी धर्मों को मिलकर, आत्मवादी शुद्ध व्यवहारों की संस्कृति को स्थिर कर, अनात्मवाद और उसके जीवन व्यवहारों से जनता को दूर रखने का भरसक प्रयत्न करने का समय आ गया है। अन्यथा, आत्मवाद की कोरी

वातें रह जायगी—अनात्मवादी व्यवहारों की व्यापकतासे आत्मवादी व्यवहार जगत् से उठ जाने से महा अनर्थ फैलेगा।

किन्तु जहां सच्चा आत्मार्थिपना नहीं, मात्र—स्वमत जमाने की तमन्ना, और आधुनिक चमकिले साधनों से प्रचार और उनको जीवन में स्थान देने का पूरा रस, वहां ग्रहिल और व्युद्ग्राहितों को हित शिक्षा किस काम की ?

("क्या कानजी दिगम्बरी है" चूड़ीवाले की पत्रिका पढ़िये)

सूक्ष्म-बुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मा-ऽर्थिभिर्नरैः।
अन्यथा, तद्-बुद्ध्यैव तद्-व्याघातः प्रसज्यते ॥

श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी

अर्थः—धर्मार्थि पुरुषों ने धर्म का स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि से समझना चाहिये। अन्यथा, धर्म की बुद्धि से किये जाने पर भी, धर्म को ही व्याघात पहुंचता है। और अधर्म हो जाता है।

सब को सद्-बुद्धि प्राप्त हो।

धर्म-नाशे क्रिया-लोपे सु-सिद्धान्त-विप्लवे।
अपृष्टैरऽपि वक्तव्यं तत्स्व-रूप-प्रकाशने ॥ ६। १५॥

ज्ञानार्णव-दि० आ० शुभचन्द्रजी

॥ इति शम् ॥

प्रथमवर्ग को खासकर विज्ञाति करता हूं कि—"धर्मक्षेत्रको छिन्न-भिन्न करने के लिए निम्नलिखित भूमिकाएं शुरू की गई है, उनका नाममात्र निर्देश कर देता हूं। स्वरूप और रहस्य समझाना यहां अशक्य है। (१) धार्मिक क्रियाको शुद्ध-रूप में करो, अन्यथा बन्द करो। (२) आधुनिक रंग से रंजित धार्मिक साहित्य का देशान्तरों में और जैनेतरों में प्रचार करो। (३) सर्वधर्म समन्वय (४) सर्व-धर्म समानता (५) प्रागतिक विश्वशांति (६) प्रागतिक संस्कृति [युनस्को का प्रचार जिसमें धर्मनिरपेक्ष मात्र अर्थ कामको ही स्थान हो [जैन सेमिनार](७) विज्ञान के उदय से धर्म की अनावश्यकता (८) देहात्मवाद (९) एक विश्वधर्म (१०) [सत्यभक्त की] सर्वज्ञकी असिद्धि (११) तीर्थंकर उग्रतपस्वीः धर्मात्माः क्रांतिकारः सुधारकः थे (१२) दो या चार ही तीर्थंकर हुए है, और कथा जनित है (१३) जैनधर्म नें मानवों को—भय-शंका-संकुचित बनाकर "त्याग-त्याग" शिखला-कर दुन्यवी सुख चैन से वंचित रख बड़ा अन्याय किया है (१४) वह उतरती कक्षाका धर्म है। [प्रो० ग्लाझेनाप] (१५) धर्म आत्मा में ही है। बहार नहीं। सभी धर्मका समन्वयकर एक विश्वधर्म बनाना (मी० ज्योर्ज) (१६) ईसाई धर्म के मूल तत्त्व सब से अच्छे होने से उसके अनुयायिकी संख्या बढती जा रही है (१७) बहुमत के आधारपर एक विश्वधर्म करने के लिए ख़्रिस्ती मिशन पद्धति से प्रत्येक धर्मको स्वधर्मका प्रचार करना चाहिये (१८) जैनः वैदिकः बौद्धः तीनो आर्य धर्मोंको एक मूल में मिलकर संख्या बढ़ानी चाहिये, (वैशाली की शिक्षण योजना) (१९) जैनधर्म सौ वर्ष में मूलधर्म में मिल जायगा (प्रो० ग्लाझेनाप) (२०) आध्यात्मिक विश्वशांति के स्थानपर अणुबम्बजन्य प्रागतिक विश्वशांति में (राज्य-द्वारी पंचशील द्वारा) सभी धर्मों को गतार्थ कर देना चाहिये (२१) सुधारकता-समाज सेवा (२२) आचूल-मूल-परिवर्तन (२३) प्रगति के अनुकूल—सामाजिकः कौटूम्बिकः आर्थिकः प्रजाकीय : नये परिवर्त (२४) नया जैन बनाओ। (परम्परा-गत जैनों में बढ़ती अधार्मिकता की उपेक्षा करो।)

इत्यादि कई भूमिका के बीज बोयें गये हैं। वे सभी पल्लवित हो रहें है। पहली भूमिका राजचन्द्रजी कवि से शुरू होकर सोनगढ़ के मत के स्वरूप में पराकाष्ठा तक पहुंच गई है। इस तरह भविष्यत् में सभी भूमिकाओं को पराकाष्ठा तक पहुंचने को समझ लेना। धार्मिक क्षेत्र में से प्रत्येक भूमिका को मानपत्र-अभिनन्दन पत्र

देनेवाले निकलते ही रहेंगे। इस प्रकार का कई प्रपंच चलते रहेंगे। इस स्थितिमें परम्परा गत जिम्मेवार और जोखमदार वर्ग चूपचाप देखते रहेंगे, और दाक्षिण्यता से सब किसीको स्थान दिया जायगा, तो लोप होने की कोई संभावना नहीं है, किन्तु जैन शासन की कैसी शोचनीय हालत होगी ? इसका दुर्लक्ष्य करना उचित है ? नहीं। यदि सोनगढ़मत के अनुयायि जैन शासन के भक्त होते, तो ऐसा मान पत्र से नहीं राचते। अपने मत का प्रचार और अपना बड़पंन स्थापित करने के इच्छुकों को कैसे समझाया जाय की—"यह प्रवाह जैन शासन के लिए तो क्या आत्मवाद के लिए भी कितने खतरनाक होगा ? यह क्षणभर सोचो। धर्म-परिवर्तन की यह आज की हवा दूसरी पीढी में बौद्ध धर्म का परिवर्तन इसाई धर्म में परिवर्तन की भूमि बनेगी, तब आंसू बहाने पड़ेगा।" और दिगम्बर धार्मिक वर्ग दाक्षिण्यता से शासन प्रत्ये की फर्ज भूल जाय, यह खेद का विषय है। सोनगढ़ के मत की तरह एक-एक भूमि का आक्रमण कर धर्म का बल तोड़ती रहेगी। वहार से उन्नति के वाजें बजते रहेंगे। तीर्थ यात्रा धार्मिक क्रिया है। उसमें दोषका निवारण होता है। किन्तु-मुनिभक्ति-दान-सत्कार-शून्यता और गुरु तत्त्व की उपेक्षा-अपभ्राजना इत्यादि से क्या यात्रा सफल हो सकती है ? और "मैं और हम सब कुछ" ऐसी गर्व प्रचूरता तथा "गेहे शूरता और पडदाबीबीपना साबित कर जायगी" इतना ख्याल न रख ने की विवेक शून्यताः से यात्रा शुभाश्रव भी किस तरह बन सकेगी ? महात्माओं : विद्वानों : धार्मिक सज्जनों: का परिचय तर्क वितर्क से सम्यग् दर्शनादि गुणों की प्राप्ति या उज्ज्वलता होती है। इतना चारित्रबल या ज्ञान बल नहीं है। मात्र रामजी भाई वकील की सभी रचना है। भोजराज की सभा में प्रचंडकाय गांगा तेली का उपयोग किया गया था। आज श्रृगाल की तरह सिंह का चमड़ा ओढ़कर सिंह बनने का सहज बन गया है। [इस पुस्तिका सुपात्रों को लाभ देगी। हिन्दी भाषा के दोष सुधार कर वांचने की कृपा करें। शिघ्रता से प्रसिद्धि करने में पुनरुक्तादि दोष क्षन्तव्य मानें।]

—प्र० बे० पारेख

सुराना प्रिण्टिंग, वर्क्स, कलकत्ता-७।